।। श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ।।

श्रीश्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-विरचितः

सिद्धान्त-दर्पणः

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी समेतः

हिन्दी अनुवादकः

जपेश-वन्द्योपाध्यायः

प्रकाशन तिथिः
श्रील श्रीहरिदास शास्त्री जी महाराज का तिरोभाव दिवस
आश्विन शुक्लद्वितीया संवत् २०७२
(१५ अक्टूबर-२०१५ खृष्टाब्द)

प्रथम ई-बुक संस्करण

सम्पर्कः japesh@rediffmail.com

।। समर्पण ।।

नित्य-लीला-प्रविष्ट भागवत परमहंस अष्टोत्तरशत
श्रील श्री हरिदास शास्त्री जी महाराज
(न्यायवैशेषिकशास्त्रि-नव्यन्यायाचार्य-काव्य-व्याकरण-सांख्य-
मीमांसा-वेदान्त-तर्क-तर्क-न्याय-वैष्णवदर्शनतीर्थ-विद्यारत्न)

को यह ग्रन्थ समर्पित है।

विषय सूची

।। श्री श्री गौरगदाधरौ विजयेताम् ।।

विज्ञप्ति

महाप्रभु श्री गौराङ्गदेव की अहैतुकी अनुकम्पा से श्रील बलदेव विद्याभूषणपाद-कृत प्रकरण ग्रन्थ, सिद्धान्त-दर्पण प्रकाशित हुआ। गुरुदेव श्रील श्री हरिदास शास्त्री जी महाराज की शिक्षाओं पर आधारित कतिपय शब्दों से इस ग्रन्थ की अवतरणिका प्रस्तुत की जाती है-

शील सम्पन्न मानव ही विश्व को सुखी, समृद्ध एवं निर्भय बना सकता है। सत् शिक्षा से ही उत्तम शील होता है। विश्व हितेच्छु परमेश्वर ने एक लक्ष्य, एक साध्य, एक साधन, एक आदर्श एवं एक प्रमाण की भित्ति पर जिस आदर्श शिक्षा की स्थापना की है, वह है श्रीमद्भागवतोक्त भागवत-धर्म।

श्रीमद्भागवत का मूल है सर्वादि अक्षर ॐकार। गायत्री का ही अकृत्रिम अर्थ श्रीमद्भागवत है। यह ग्रन्थ ही ब्रह्मसूत्रों का अर्थ है। परम सत्य वस्तु ही इसमें ध्येय है। परोत्कर्ष सहनशील व्यक्ति ही इस ग्रन्थ का अधिकारी है। भक्त एवं भगवान् के विशुद्ध आचरण इसमें अङ्कित हैं।

निज स्वतन्त्रता के कारण निज ज्ञानानन्द से विमुख होकर अनादिकाल से जीव पराधीन अवस्था में रहता है। श्रीमद्भागवतोक्त भागवत धर्म के अनुशीलन द्वारा पराधीनता से मुक्त होकर वह निज महिमा में प्रतिष्ठित होता है।

महर्षि श्री वेदव्यास जी ने इस अज्ञात तत्व सम्बलित संहिता का अध्ययन निजपुत्र निवृत्तिनिरत मुनि श्रीशुकदेव को कराकर उन्हें जनसेवा में नियुक्त किया था। इस प्रकार उन्होंने इस भागवत धर्म की ज्ञानधारा को इस जगत् में स्थापित किया था।

परन्तु जगत् के अधिकाधिक लोगों के स्वार्थी, लोभी व कलह-प्रिय होने से यह ज्ञानधारा लुप्त-प्राय हो गई। सत् शिक्षा के स्थान पर निरीश्वरवाद का प्रवर्त्तन हुआ। परम उपादेय ग्रन्थ श्रीमद्भागवत को अप्रामाणिक होने का लाञ्छन लगाया गया । इस से सज्जनों का मन खिन्न हो गया। उन निरीश्वरवादियों के आसुरी मतों का खण्डन कर, श्री बलदेव विद्याभूषणपाद ने ईश्वर के स्वरूप को तथा वेद व श्रीमद्भागवत महापुराण की नित्यता एवं सर्व्वोत्कृष्टता को इस प्रकरण ग्रन्थ में स्थापित की है।

इस ग्रन्थ में कुल सात प्रभा हैं। प्रथमा प्रभा में वेदों के अपौरुषेयत्व-प्रतिपादन पूर्व्वक निरीश्वरवादी मतों का निरसन किया गया है। निरीश्वरवाद के मत-समूह में हैं - कपिल-मुनि का मत (जिनके मत में प्रधान अथवा प्रकृति द्वारा जगत् रचित होता है), बौद्ध मत (जिनके मत में परमाणु द्वारा जगत् सृष्ट होता है), जैन मत (जिनके मत में यह जगत् किसी कर्त्ता की सृष्टि नहीं है), इत्यादि। कणाद व पतञ्जलि की शिक्षा में ईश्वर का आभास होने पर भी वास्तव में वे अनीश्वरवादी हैं, क्योंकि उनके ईश्वर कपोल-कल्पित हैं, वेदोक्त ईश्वर नहीं। प्रथमा प्रभा में ग्रन्थकार ने निरीश्वर-वादी मतों का खण्डन कर श्री हरि व वेद के पूज्यमानत्व को प्रतिपादित किया है।

द्वितीया प्रभा में श्रीव्यासदेव जी द्वारा प्रकटित इतिहास व पुराण ग्रन्थों का भी अपौरुषेयत्व को स्थापित किया गया है। तृतीया से सप्तमी प्रभा में श्रीमद्भागवत के विरोध में, श्री हरि के विद्वेषी-गणों की जो दुरुक्तियाँ हैं, उन सब का निरसन-पूर्व्वक, सरल भाषा में, सूत्र रूप में श्रीमद्भागवत का सर्व्वप्रमाण-चूड़ामणित्व एवं श्रीहरि का पारतम्य स्थापित किया गया है।

इस ग्रन्थ के टीकाकार - श्री नन्दमिश्र महाशय श्रीबलदेवविद्याभूषणपाद के शिष्य थे। अपने लेखन-नैपुण्य द्वारा इन्होंने ग्रन्थकार का अभिप्रेत वस्तु को निज-टीका द्वारा निरूपित कर सविशेष कृतित्व का परिचय प्रदान किया है।

ग्रन्थकार श्रीबलदेवविद्याभूषणपाद का संक्षिप्त जीवन-परिचय निम्न है-

श्री श्रीबलदेवविद्याभूषण आनुमानिक खृष्ठीय अष्टादश शताब्दी में अविर्भूत हुए थे। आपका जन्मस्थान उड़िष्या के अन्तर्भूत बालेश्वराभिजनस्थ रेमुणा के निकटवर्त्ती एक पल्ली है। चिल्काह्रद के तीरवर्त्ती विद्वद्गोष्ठी में आपने व्याकरण, अलङ्कार, न्यायशास्त्र इत्यादि का अध्ययन किया था। पश्चात् वेदाध्ययन हेतु आप महीशूर गए थे। अनन्तर आपने पुरुषोत्तम क्षेत्र में अवस्थान के समय श्रीरसिकानन्द प्रभु के प्रशिष्य कान्यकुब्ज निवासी श्रीराधादामोदर के निकट 'षट्सन्दर्भ' अध्ययन कर गौड़ीयवैष्णवधर्म के सुगभीर मर्म में आकृष्ट होकर श्रीराधादामोदर का शिष्यत्व ग्रहण किया था। पीताम्बरदास के निकट भक्तिशास्त्र एवं श्री विश्वनाथ चक्रवर्त्तिपाद के निकट श्रीमद्भागवत का अध्ययन किया था। श्रीवृन्दावनस्थ श्रीराधाश्यामसुन्दरदेव आपके सेवित विग्रह हैं। आपके प्रधान शिष्य उद्धवदास, नन्दमिश्र थे। आपके रचित ग्रन्थसमूह हैं - सिद्धान्त-रत्न, सिद्धान्त-दर्पण, प्रमेयरत्नावली, साहित्यकौमुदी, काव्यकौस्तुभ, ऐश्वर्य्यकादम्बिनी इत्यादि। आप ने कतिपय ग्रन्थों की टीका भी की है, जैसे ब्रह्मसूत्र के श्रीगोविन्दभाष्य, षट्संदर्भ टीका, लघुभागवतामृतम् टीका, श्यामानन्दशतक की टीका, नाटकचन्द्रिका की टीका, छन्दःकौस्तुभ टीका, श्रीमद्भागवत की वैष्णवनन्दिनी टीका, श्रीगोपालतापनी टीका, श्रीगीताभाष्य, स्तवमाला टीका, प्रभृति । यह सारे ग्रन्थ गौड़ीय वैष्णव साहित्य के प्रभूत शोभावर्धक हैं।

सिद्धान्त-दर्पण ग्रन्थ का हिन्दी रूपान्तर करने को श्रीगुरु महाराज जी दीर्घ काल से इच्छुक रहे। एकदा, ग्रन्थों का पाठ समापन कर उन्होंने निज कर-कमल द्वारा इस ग्रन्थ का एक पुरातन संस्करण मुझे प्रदान कर उसका हिन्दी रूपान्तर करने को कहा था। इसके कुछ अंश का अनुवाद करके जब मैंने श्रीमहाराज जी को दिखाया, तो उसका अवलोकन कर वे प्रसन्न हुए एवं बोले, ''तुम्हारा प्रयास सफल हो। तो मैं और नहीं लिखूँगा। तुम ही लिखो।'' लगभग डेढ़ महीने पश्चात् वे नित्य लीला प्रविष्ट हो गये।

श्रीगुरु महाराज जी की तिरोभाव तिथि के पावन अवसर पर इसके ई-बुक संस्करण का विमोचन किया जा रहा है।

- जपेश वन्द्योपाध्याय

।। श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ।।

सिद्धान्त-दर्पणः

श्री नित्यानन्दाय नमः

प्रथमा प्रभा

पिता पराशरो यस्य शुकदेवस्य यः पिता।
तं व्यासं बदरीवासं कृष्णद्वैपायनं भजे॥१॥

पिता जिनके श्री पराशर मुनि हैं, जो श्री शुकदेव जी के पिता हैं, मैं उन बदरिका आश्रम के निवासी श्री व्यासदेव जी को भजता हूँ ॥१॥

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

श्यामोऽपि यः श्रुति-सरोरुह-बोधरक्तः
शान्तोऽपि यः स्यति तमस्ततिमन्तरस्थाम्।
प्रत्यक् पदं विशति यः परमं स्वगोभि-
र्व्यासं तमद्भुत-रविं शरणं प्रपद्ये॥

वेदं तद्वाच्यं परेशं च दुर्धियो नास्तिका न मन्यन्ते। केचिच्चास्तिकाभासाः समाश्रयन्त्यर्द्धकुक्कुटीयम्। तानेतान् दुर्म्मुखान् निराकर्त्तुं 'सिद्धान्तदर्पणः' नाम प्रकरणं निबध्नन् स्वप्राचा कृतां श्रीव्यासभक्तिं तन्मुखे मङ्गलत्वेन लिखति – पितेति। भजे प्रणत्यादिभिरनुकूलयामीत्यर्थः। पराशरपितृकत्वेनास्येश्वरत्वं व्यज्यते। 'कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं प्रभुम्' इति श्रीवैष्णवात् (३.४.५)। शुकपितृत्वेन विशुद्धभक्तिसमुपदेशित्वञ्च, तस्य भक्तिर्भजतो वाञ्छित-सिद्धिकरीति च॥१॥

अनुवाद

"श्याम-रूप होकर भी जो वेद-रूपी कमल को विकसित वा प्रकाशित करने में आसक्त हैं, शान्त होकर भी जो अन्तःकरण के अन्धकार को दूर करने वाले हैं, जो अपनी कान्ति वा प्रभाव से परमात्मा का एवं प्रत्येक पदार्थ का ज्ञान कराने वाले हैं, मैं ऐसे अद्भुत व्यास रूपी सूर्य की शरण ग्रहण करता हूँ।"

वेद एवं तद्वाच्य परमेश्वर को दुर्बुद्धि मनुष्य गण नहीं मानते हैं। कुछ आस्तिक-आभासगण (अर्थात् जो शब्दों में इसे स्वीकार तो करते हैं परन्तु हृदय से इसे अस्वीकार करते हैं) अर्द्धकुक्कुटी न्याय[1] का आश्रय ग्रहण करते हैं। इन सभी दुर्मुखगण के निराकरण के लिए श्री ग्रन्थकार ने सिद्धान्त-दर्पण नामक प्रकरण ग्रन्थ की रचना की है। उन्होंने पूर्व महाजनों के द्वारा आचरित श्री व्यासदेव के नमस्कार रूपा भक्ति, ग्रन्थ के प्रारंभ में मंगलाचरण के रूप में लिखा है। यहाँ "भजे" का अर्थ है - प्रणति आदि के द्वारा अनुकूलता। श्री पराशर के पिता कहने से उनके (श्री व्यासदेव के) ईश्वरत्व को समझना होगा। श्री विष्णुपुराण (३.४.५) में उक्त है- "श्री कृष्ण-द्वैपायन व्यास, जो प्रभु नारायण हैं, को जानो।" श्री शुकदेव के पिता के रूप में कहे जाने पर उनको विशुद्ध भक्ति के समुपदेष्टा के रूप में जानना होगा। उनके भजन करने वालों का वाञ्छित सिद्ध होता है ॥१॥

नित्यं निवसतु हृदये चैतन्यात्मा मुरारिर्नः।
निरवद्यो निर्वृतिमान् गजपतिरनुकम्पया यस्य॥२॥

चैतन्य-आत्मा मुरारि नित्य हमारे हृदय में निवास करें, जिनकी अनुकम्पा से गजपति पशुवृत्ति से मुक्त हो गये।।२।।

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

स्वयं मङ्गलमाचरति—नित्यमिति। अत्र कृष्णश्चैतन्यो मुरारिश्चेति त्रयोऽर्था वर्णिताः। आद्ये पक्षे मुरारिः कृष्णचैतन्यात्मा चिद्विग्रहः। गजपतिर्ग्राहक्लिष्टो गजेन्द्रः। निरवद्यो विगतपशुभावः। निर्वृतिमान् प्राप्तपार्षदतनुः, द्वितीये चैतन्यात्मा चैतन्यनामा आत्मा विग्रहः मुरारिः संसृतिकुत्सा-विनाशी गजपतिरुत्कलाधीशः। निरवद्यस्त्यक्तराजसः। निर्वृतिमान् अवाप्त-प्रेमानन्दः। तृतीये मुरारिः स्वपूर्व्वचतुर्थः। चैतन्यात्मा शचीसुतैकनिष्ठः

१ - किसी ज्ञानधारा के उस अंश को ग्रहण करना, जो निजस्वार्थ के अनुकूल हो एवं अपर भाग को आग्रह्य करने को अर्धकुक्कुटी न्याय कहते हैं। कुक्कुटी अर्थात् मुर्गी। उदाहरणार्थ, स्वार्थी व्यक्ति जब कुक्कुटी पालता है, उसकी वाञ्छा होती है कि डिम्बग्रहणार्थ वह कुक्कुटी का केवल पृष्ठार्ध ही पाले एवं अग्रभाग अपर व्यक्ति पाले व उसके आहार की व्यवस्था करे। यह हास्यास्पद है।

गजपतिर्गोपालदासाख्यः करिराजः। निरवद्यस्त्यक्तहिंसः। निर्वृतिमान् सत्सेवानन्दितः। अत्राद्यपक्षो वाच्यः। अन्त्यौ तु व्यङ्ग्यौ ॥२॥

अनुवाद

श्री ग्रन्थकार स्वयं मङ्गलाचरण करते हैं । यहाँ कृष्ण, चैतन्य एवं मुरारि - यह तीन प्रकार के अर्थ वर्णित होते हैं।

प्रथम पक्ष में मुरारि शब्द का अर्थ है श्रीकृष्ण, जो चैतन्यात्मा चिद्विग्रह हैं। यहाँ गजपति का अर्थ है ग्राह द्वारा उपद्रुत गजेन्द्र। निरवद्य का अर्थ है पशु भाव दूर हुआ। निर्वृतिमान् का अर्थ है पार्षद-शरीर को प्राप्त करना। (अर्थात् इस प्रथम पक्ष में इस श्लोक का अर्थ है - जिनकी अनुकम्पा से ग्राह द्वारा उपद्रुत गजराज पशुभाव परिहार कर पार्षद देह प्राप्त किये थे, उस सच्चिदानन्द श्री कृष्ण का वास हमारे हृदय में निरन्तर हो ।)

द्वितीय पक्ष में चैतन्यात्मा का अर्थ है श्री चैतन्य नामक आत्मा, जो श्री मुरारि के विग्रह हैं एवं जो संसाररूपी कुत्सा का विनाश करने वाले हैं। गजपति का अर्थ है उत्कल के राजा श्रीप्रतापरुद्र। निरवद्य का अर्थ है राजस भाव त्यक्त हुआ। निर्वृतिमान् का अर्थ है प्रेमानन्द को प्राप्त करना। (अर्थात् इस द्वितीय पक्ष में इस श्लोक का अर्थ है - जिनके अनुग्रह से उत्कल के राजा गजपति प्रतापरुद्र अपने राजसभाव का परित्याग कर प्रेमानन्द भाव से कृत-कृतार्थ हुए थे, उन संसाररूपी कुत्सा का विनाश करने वाले श्रीचैतन्यमहाप्रभु हमारे हृदय में सर्वदा विलास करें ।)

तृतीय पक्ष में मुरारि का अर्थ है स्वयं ग्रन्थकार से पूर्व चतुर्थ गुरु, श्रीरसिकमुरारि। चैतन्यात्मा का अर्थ है कि शची के पुत्र श्रीचैतन्य में एकनिष्ठ हैं जो आत्मा। गजपति का अर्थ है गोपालदास नामक हस्तिराज। निरवद्य का अर्थ है हिंसा-भाव त्यक्त हुआ। निर्वृतिमान् का अर्थ है सत्सेवा के द्वारा आनन्दित होना। (अर्थात्, तृतीय पक्ष में इसका अर्थ है जिनकी कृपा से गोपाल-दास नामक मत्त हस्थिराज भी अहिंसक होकर सत्सेवा में नियुक्त होकर आनन्दित हुए थे; उन शचीसुत एकनिष्ठ मुरारि जो कि ग्रन्थकार के परात्पर गुरुदेव श्री रसिकमुरारि हैं, हमारे हृदय में सदैव वास करें।)

यहाँ प्रथम पक्ष ही वाच्य है। अन्त के दो पक्ष व्यङ्ग्यमात्र हैं ॥२॥

यदस्मिन् वेदसिद्धान्ताः प्रकाशन्ते सतां प्रियाः।
तेनायं भण्यते ग्रन्थो नाम्ना सिद्धान्तदर्पणः॥३॥

इस ग्रन्थ में सन्तों को प्रिय वैदिक सिद्धान्तों को प्रकाशित किया गया है । इस कारण से यह ग्रन्थ सिद्धान्त-दर्पण नाम से अभिहित है ॥३॥

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

प्रकृतं ग्रन्थं स्तौति—यदिति। वेदसिद्धान्ता वेदस्य नित्यत्वभगवद्रूपत्वेतिहास-पुराणरूपत्वरूपाः प्रकाशन्ते सम्यक् प्रतीता भवन्तीत्यर्थः। सतां वैदिकानां हरिभक्तानाम् ॥३ ॥

अनुवाद

इस श्लोक में ग्रन्थ के स्वरूप को बोल रहे हैं। यहाँ वेद-सिद्धान्त का अर्थ है - वेद का नित्यत्व, भगवद्रूपत्व, इतिहास-पुराणादि-रूपत्व । प्रकाशन्ते का अर्थ है - सम्यक् प्रकार से प्रकाशित हुए हैं। सतां का अर्थ है - वेदानुगत हरिभक्तगणों का ॥३ ॥

एकमेव परं तत्त्वं वाच्यवाचकभावभाक्।
वाच्यः सर्व्वेश्वरो देवो वाचकः प्रणवो भवेत् ॥४ ॥

एक ही परम तत्त्व वाच्य और वाचक भेद से दो प्रकार के हैं । वाच्य है सर्वेश्वर देव श्री हरि एवं वाचक है प्रणव (ओंकार) ॥४ ॥

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

ग्रन्थमवतारयति एकमिति–'एतद् वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कार' (५.२) इति षट्प्रश्न्यां वाच्यवाचकयोरीश्वरौङ्कारयोरभेदो दर्श्यते। एवमन्यत्र च ॥४ ॥

अनुवाद

इस श्लोक के द्वारा ग्रन्थ का अवतरण कराते हैं । प्रश्नोपनिषद् के ६ प्रश्नों में कहा गया है - "हे सत्यकाम ! यह ब्रह्म चाहे परा हो या अपरा, वही ओंकार है ।" इस प्रकार वाच्य एवं वाचक अर्थात् ईश्वर एवं ओंकार दोनों में अभेद दर्शाया गया है। इस प्रकार की उक्तियाँ शास्त्रों में अन्यत्र भी हैं ॥४ ॥

मत्स्यकूर्म्मादिभी रूपैर्यथा वाच्यो बहुर्भवेत्।
वाचकोऽपि तथर्गादिभावाद् बहुरुदीर्य्यते ॥५ ॥

वाच्य (भगवान् श्री हरि) जिस प्रकार मत्स्य, कूर्मादि रूपों द्वारा बहुविध होते हैं, उसी प्रकार वाचक (प्रणव) भी ऋक् आदि भाव से बहु-विध कहे जाते हैं ॥५ ॥

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

द्वयोर्बहुरूपतामाह-मत्स्येति। वाच्यः सर्व्वेशो यथा मत्स्यादिरूपैर्बहुमूर्त्तिस्तथा वाचकोऽपि प्रणव ऋग्यजुः सामाथर्वेतिहासपुराणादिरूपैर्बहुरूपो भवति। 'एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभातीति' श्रीगोपाल तापन्याम् (१.२०)। एकानेकस्वरूपायेति श्रीवैष्णवे (१. २.३) च वाच्यस्य बहुरूपत्वम्। 'सर्व्वे वेदाः प्रणवादिका' (१.३) इत्यारभ्य 'तस्य ह वै प्रणवस्य या पूर्व्वा मात्रा पृथिव्यकारः' (२.१) इत्यादिनाऽकारोकारमकारार्द्धमात्रास्तस्य वाचकस्य क्रमाद् ऋग् यजुः सामाथर्वाणि भवन्तीति श्रीनृसिंहतापन्यामभिधानात् प्रणवस्यर्गादिरूपत्वम्। एवं वा अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् ऋग्वेदो यजुर्व्वेदः सामवेदोऽथर्व्वाङ्गिरस इतिहासः पुराण विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानीति' बृहदारण्यकात् (२.४.१०)। 'इतिहास पुराणस्य वक्तारं सम्यगेव हि। माञ्चैव प्रतिजग्राह भगवानीश्वरः प्रभुः। एक आसीद् यजुर्व्वेदस्तं चतुर्धा व्यकल्पयत्। चातुर्होत्रमभूत्तस्मिंस्तेन यज्ञमकल्पयत्। आध्वर्यवं यजुर्भिस्तु ऋग्भिर्होत्रं तथैव च। औद्गात्रं सामभिश्चैव ब्रह्मत्वे चाप्यथर्व्वभिः। आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिर्द्विजसत्तमाः। पुराणं संहिताश्चक्रे पुराणार्थ-विशारदः। यच्छिष्ठन्तु यजुर्वेद इति शास्त्रार्थनिर्णयः।' इति वायुपुराणे सूतोक्तेश्चेतिहासपुराणयोर्वेदत्वम्॥५॥

अनुवाद

वाच्य और वाचक अर्थात् ईश्वर एवं ओंकार दोनों के बहुरूपत्व को इस श्लोक में कहते हैं। वाच्य सर्वेश्वर जिस प्रकार मत्स्यादि रूपों में बहुमूर्त्तियाँ प्रकट करते हैं, उसी प्रकार वाचक प्रणव भी ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण इत्यादि बहुरूप ग्रहण करते हैं। श्री गोपाल-तापनी उपनिषद् (१.१६) में कहा गया हैः "एकोऽपि सन् बहुधा यो विभाति" अर्थात् एक होने पर भी जो बहुत रूपों में व्यक्त रहते हैं। श्री विष्णु पुराण (१.२.३) में भी वाच्य के बहुरूपत्व को "एकानेक स्वरूपाय" इस प्रकार कहा गया है। श्री नृसिंह-तापनी उपनिषद् के पूर्व भाग में "सर्वे वेदाः प्रणवादिकाः" (१.१.१३) इस उक्ति से आरम्भ कर "तस्य ह वै प्रणवस्य या पूर्वा मात्रा पृथिव्यकारः" (१.२.१) इत्यादि उक्तियों के द्वारा ये बताया जाता है कि अकार, उकार, मकार व अर्ध मात्रा क्रम से ऋक् , यजुः, साम और अथर्व बन गये। इस प्रकार- प्रणव का ही ऋक् आदि रूप दिखता है। बृहदारण्यक उपनिषद् (२.४.१०) में उक्त है - "एवं वा अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितं एतत्..." इत्यादि अर्थात् उस महान् वस्तु के श्वास से उत्पन्न हुए हैं ऋक्, यजुः, साम, अथर्व, आङ्गिरस, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्या इत्यादि। वायु पुराण में श्री सूत की उक्ति है - "भगवान्, ईश्वर, प्रभु ने मुझ को

इतिहास-पुराण के सम्यक् वक्ता के रूप में स्वीकार किया। एक ही यजुर्वेद था जिसका उन्होंने चार भागों में विभाजन किया। उनमें चार प्रकार के होत्र हुए एवं उनके साथ उन्होंने यज्ञों को प्रकट किया। यजुर्वेद के साथ उन्होंने अध्वर्यु पुरोहित को प्रकट किया, ऋग्वेद के साथ होता, सामवेद के साथ उद्‌गाता व अथर्ववेद के साथ ब्रह्मा को प्रकट किया। हे द्विजों में उत्तम! उन पुराणार्थ-विशारद ने आख्यान, उपाख्यान व गाथाओं के साथ पुराण व संहिताओं को प्रकट किया। जो अवशेष रह गया वह यजुर्वेद नाम से अभिहित हुआ। यही शास्त्रार्थ का निर्णय है।" वायु पुराण में श्री सूत की इस उक्ति से इतिहास व पुराण के वेदत्व का ज्ञान होता है ॥५॥

आद्यन्तरहितत्वेन द्वयं नित्यं प्रकीर्त्त्यते।
आविर्भाव-तिरोभावौ स्यातामस्य युगे युगे॥६॥

आदि व अन्त से रहित होने के कारण दोनों (वाच्य ईश्वर व वाचक वेद) को ही नित्य बोला जाता है। पर युग-युग में दोनों का आविर्भाव व तिरोभाव होता है ॥६॥

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

अथोभयोर्नित्यत्वमाह-आद्यन्तेति। आदिर्जन्म अन्तो विनाशः। तद्रहितत्वेन वाच्यवाचकरूपं वस्तुद्वयं नित्यमुच्यते। तमादिमध्यान्तविहीनमेकमिति कैवल्योपनिषदि (६)। 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशाविति' श्वेताश्वतरोपनिषदि (१.६)। 'तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।' इति कठवल्ल्यां (२.६.१)। 'अविकाराय शुद्धाय नित्याय परमात्मने। सदैकरूप-रूपाय विष्णवे सर्व्वजिष्णवे। अपक्षय-विनाशाभ्यां परिणामर्द्धिजन्मभिः। वर्जितः शक्यते वक्तुं यः सदास्तीति केवलम्' इति श्रीवैष्णवे (१.२.१, १.२.११)च वाच्यस्य सर्व्वेशस्य नित्यत्वं प्रकीर्त्त्यते। 'वाचा विरूपनित्यया' इति श्रुत्या (ऋक् १.७५.६)। 'अनादि-निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्व्वाः प्रवृत्तयः॥' इति स्मृत्या (महाभारत १२.२२४.५५) च वाचकस्य वेदस्य नित्यत्वं प्रकीर्त्यते इत्यर्थः। ननु 'ब्रह्मविष्णु रुद्रेन्द्रास्ते सर्व्वे प्रसूयन्ते' इति सर्व्वेशस्य विष्णोरुत्पत्तिः श्रुता (आथर्वशिखोपनिषद् ३)। देहविनाशश्च स्मर्य्यते भारतादिषु। वेदस्यापि शब्दराशित्वादुत्पत्ति-विनाशौ दुर्व्वारौ, ततः कथं तयोर्नित्यत्वं? तत्राह—आविर्भावेति। अस्योभयात्मकस्य वस्तुनो जन्मनाशौ न स्तः। किन्त्वाविर्भावतिरोभावौ भवेतां। ब्रह्मेत्यादि श्रुतौ विष्णोरुत्पत्तिस्तेषु तस्य सङ्गतिरेव, चौरेष्विव राज्ञः। उत्पत्ति-प्रतिषेधादेव। देहनाशोऽपि प्रातीतिक एवैन्द्रजालिकस्येव बोध्यः। नित्यस्य नाशासम्भवात्। वेदस्यापि नित्यत्वात्तौ नेति प्रतिपादयिष्यते॥६॥

अनुवाद

अब दोनों वाच्य एवं वाचक के नित्यत्व को बताते हैं – आदि का अर्थ है जन्म; अन्त का अर्थ है विनाश। दोनों से रहित होने के कारण वाच्य और वाचक दोनों वस्तु नित्य कहे जाते हैं। कैवल्योपनिषद् (१.६) में उक्त है – "वह एक वस्तु आदि, मध्य और अन्त से रहित है"। श्वेताश्वतर उपनिषद् (१.६) के अनुसार दोनों वस्तु 'ईश' व 'अनीश', 'ज्ञ' व 'अज्ञ' अजन्मा हैं। कठवल्ली श्रुति (२.६.१) में उक्त है "वही शुद्ध हैं वह ब्रह्म हैं एवं उनको अमृत (अर्थात् नित्य) कहा जाता है"। श्री विष्णु-पुराण (१.२.१) में उक्त है – "अविकारी, शुद्ध, नित्य परमात्मा श्री विष्णु सदा एक रूप हैं एवं सदा विजयी हैं।" श्री विष्णु-पुराण (१.२.११) में उक्त है "ईश्वर अपक्षय, विनाश, परिणाम, वृद्धि एवं जन्म से वर्जित हैं, केवल इतना ही कहा जा सकता है कि सदा उनका अस्तित्व है।" इस प्रकार वाच्य सर्वेश्वर का नित्यत्व सिद्ध होता है।

श्रुतियों में (ऋग्वेद ८.७५.६) उक्त है – "हे विरूप ! नित्य वेद के द्वारा...।" महाभारत (१२. २.३२) में उक्त है- "आदि में स्वयम्भू ईश्वर के वाक् से उत्सृष्ट हुई जो वाणी – वह आदि व निधन से रहिता है, नित्या है, वेदमयी है, दिव्या है। उसी वाणी से सभी प्रवृत्तियों की सृष्टि होती है।" इस स्मृति वाक्य से वाचक वेद के नित्यत्व को बताते हैं। परन्तु शास्त्रों में ऐसी वाणियाँ हैं – "ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, रुद्र के जन्म होते हैं।" इस प्रकार की वाणी से सर्वेश्वर श्री विष्णु की उत्पत्ति सुनने में आती है। महाभारत आदि ग्रन्थों में उनके शरीर के विनाश का भी उल्लेख है। शब्दराशि होने के कारण वेद की भी उत्पत्ति एवं विनाश दुर्व्वार हैं। फिर कैसे दोनों का नित्यत्व हो सकता है? इसके उत्तर में इस श्लोक में आविर्भाव आदि शब्द कहते हैं – कहते हैं कि इन दोनों वस्तुओं का जन्म व नाश नहीं होता है, किन्तु दोनों का आविर्भाव या तिरोभाव होता है। ब्रह्म इत्यादि उपरोक्त श्रुति वाक्य में श्री विष्णु की उत्पत्ति उनमें श्री विष्णु की सङ्गति के कारण बोधित होती है; जैसे चोरों के बीच राजा। उनकी उत्पत्ति का निषेध करने वाले वाक्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है। उनके देह नाश सम्बन्धी वाक्य भी प्रतीति के रूप में समझना होगा – इन्द्रजाल की भाँति।यह इसलिए कि नित्य वस्तु का नाश असम्भव है। उसी प्रकार वेद के नित्यत्व के कारण, वेद का जन्म-मृत्यु नहीं है यह प्रतिपादित किया जायेगा ॥६॥

जगतः सप्रतीकत्वात् कार्य्यत्वं सर्व्वसम्मतम्॥७॥

यह जगत् अवयवों से निर्मित है, अतः सभी का विश्वास है कि यह जगत् एक कार्य है (अर्थात् इसका कोई कारण है)।।७।।

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

एवमास्तिकान् प्रति श्रुत्यादि-प्रमाणेनेश्वर-वेदौ नित्यौ दर्शितौ। अथ वेदावमन्तृन्नास्तिकान् प्रत्यनुमान-प्रमाणेन तौ तथा दर्श्येते। तत्र जगत्-

कर्त्तृतयेश्वरोऽनुमेयः। तदर्थं जगतः कार्य्यत्वं तावदाह-जगत इति। सप्रतीकत्वात् सावयवत्वात्। 'अङ्गं प्रतीकोऽवयवः' इत्यमरः। तदयं प्रयोगः-इदं जगत् कार्य्यं, सावयवत्वात्, घटवत्। यन्न सावयवं न तत् कार्य्यं परमाणुवद् वियद्वद्वेति सर्व्वेषां बौद्धादीनां तार्किकाणाञ्चाभिमतम्। एतेन न कदाचिदनीदृशं जगदिति तन्नित्यत्ववादिनां कर्म्मजड़ानां मतमपास्तम्। ते ह्येवमनुमिन्वन्ति-इदं जगत् न कार्य्यं मनसाप्यविभाव्यमानरचनत्वात्। न खलु भूधर-सागरादिकं दिगाकाशादिकञ्च केनचित् सुमेधसा शक्यं मनसापि रचयितुम्। अतोऽनादिसिद्धं नित्यमेतत्। यः कल्पः स कल्पपूर्व्व इति युक्तेरनादित्वमस्य। ईदृशमपि जगत् सत्यसङ्कल्पेनेश्वरेण सुकरमिति तत्परिहारो व्यक्तीभावि ॥७॥

अनुवाद

इस प्रकार आस्तिकों के प्रति श्रुति-आदि प्रमाणों के द्वारा ईश्वर एवं वेद के नित्यत्व को दर्शाया गया। अब वेद की अवमानना करने वाले नास्तिकों के प्रति अनुमान प्रमाण के द्वारा इसी नित्यत्व को दिखाया जा रहा है। ईश्वर जगत् के कर्त्ता होने के कारण अनुमेय हैं अर्थात् अनुमान के द्वारा उनको जाना जा सकता है। जगत् के कार्यत्व को दिखाने के लिए यह श्लोक कहा गया है। यहाँ स-प्रतीकत्वात् का अर्थ है स-अवयवत्वात् (अर्थात् अवयवों से युक्त होने के कारण) क्योंकि अमरकोश (२.६.७०) में उक्त है- 'अङ्गं प्रतीकोऽवयवः'। यह जगत् कार्य है क्योंकि इसके अवयव हैं। इसका दृष्टान्त है - घट। जिसका कोई अवयव नहीं है वह कार्य नहीं हो सकता, जिस प्रकार परमाणु अथवा आकाश। यह सभी बौद्ध, तार्किक इत्यादि का अभिमत है। इस प्रकार कर्मजड़वादियों के मत का खण्डन हुआ, जो कहते हैं कि यह जगत् सर्वदा इसी प्रकार का है, दूसरे प्रकार से कभी नहीं था। वे लोग ऐसा अनुमान लगाते हैं कि यह जगत् किसी का कार्य हो ही नहीं सकता क्योंकि मन से इसकी चिन्ता भी नहीं की जा सकती है। इस प्रकार की पृथ्वी, सागरादि, दिक्, आकाश किसी सुमेधस् द्वारा भी मन से भी रचा नहीं जा सकता। इसलिए उनके अनुसार यह जगत् अनादि-सिद्ध है तथा नित्य है। उनके अनुसार इस कल्प में इसका स्वरूप वैसा ही है जैसा पूर्व कल्प में था। इस मत का परिहार (अग्रे द्रष्टव्य) है कि इस प्रकार के जगत् का भी निर्माण सत्य-सङ्कल्प ईश्वर के द्वारा अनायास ही होता है ॥७॥

सङ्घातः परमाणूनां नास्तिकैर्यः प्रकल्प्यते।
स तु स्थिरस्य संहन्तुरस्वीकारान्न सिद्ध्यति॥८॥

नास्तिकों द्वारा इस जगत् को परमाणुओं के आकस्मिक सङ्घात का फल के रुप में जो कल्पित किया गया है, वह सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि इस विचार में किसी स्थिर वस्तु को अस्वीकार किया गया है जो इस सङ्घात को घटा सकें ॥८॥

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

जगद्रूपे कार्य्ये मतान्तराणि निराकरोति-सङ्घात इति। पार्थिवादयश्चतुर्विधाः परमाणवः पृथिव्यादिभावेन युगपत् सङ्घातं भजन्ते इति भावक्षणिकत्ववादिनो बौद्धाः। पृथिव्यादि-सङ्घातहेतवः परमाणवो न चतुर्विधाः, किन्त्वकस्वभावा एव, परिणामात्तु पृथिव्यादिरुपो विशेष इत्याहर्ता स्याद्वादिनः प्राहुः। तैः कल्पितोऽयं सङ्घातो न सम्भवति। स्थिरस्य संहन्तुश्चेतनस्य तैरस्वीकृतत्वादिति सूत्रभाष्येऽस्य विस्तरः॥८॥

अनुवाद

जगत् का कार्य होने से सम्बन्धित और कुछ मतों का निराकरण ग्रन्थकार इस श्लोक में करते हैं। क्षणिक बौद्धवादियों का मानना है कि पार्थिवादि चार प्रकार के परमाणु युगपद् सङ्घात के द्वारा पृथ्वी-आदि (पृथ्वी, जल, अग्नि व आकाश) का निर्माण करते हैं। आर्हत् (जैनी) स्याद्वादियों का कहना है कि पृथ्वी-आदि सङ्घात के हेतु जो परमाणु हैं वे चतुर्विध नहीं हैं किन्तु उनका एक ही भाव है। परिणाम में वे पृथ्वी आदि विशेष रूप ग्रहण करते हैं। उनके द्वारा इस प्रकार का कल्पित सङ्घात सम्भव नहीं है क्योंकि सङ्घात को घटाने वाले किसी स्थिर चेतन पदार्थ का अस्तित्व वे स्वीकार नहीं करते हैं। ब्रह्मसूत्र (२.२) के भाष्य में इसका विस्तार है ॥८॥

प्रधानस्य न कर्त्तृत्वं जड़त्वादेव साम्प्रतम्॥९॥

प्रधान जड़ होने के कारण उसमें कर्तृत्व मानना उचित नहीं हैं ॥९॥

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

विभुपुरुषच्छायया सचेतनं प्रधानं जगत्कर्त्तृ स्यादिति सांख्या मन्यन्ते, तान्निरस्यति-प्रधानस्येति। तदयं प्रयोगः—प्रधानं न जगत्कर्त्तृ, जड़त्वात्, काष्ठादिवत्। ज्ञानेच्छाप्रयत्नवतः कुलालादेर्घटादि-कर्त्तृत्वं लोके दृष्टं काष्ठादितुल्ये प्रधाने ज्ञानाद्यभावान्न तस्य जगत्कर्त्तृत्वम्। पुरुषच्छायया लब्धचैतन्यं तच्चेत् तत्कर्त्तृ स्वीक्रियते, तर्हि पुरुषस्यैव तत्वम्। न खलु तप्तायसो दग्धृत्वमयोनिमित्तमपितु वह्निनिमित्तमेवेति॥९॥

अनुवाद

अब सांख्यवादियों का मत कि विभु पुरुष की छाया के कारण ''प्रधान'' सचेतन होकर जगत् का निर्माण करते हैं- इसका निरसन करते हैं इस श्लोक में। प्रधान जगत् के कर्त्ता नहीं हो

सकते क्योंकि प्रधान जड़ है । इसका दृष्टान्त है-काष्ठ आदि। कुम्हार आदि में घट आदि का कर्तृत्व इस लोक में दिखता है क्योंकि उनमें ज्ञान, इच्छा एवं प्रयत्न हैं । काष्ठ के समान जड़ प्रधान में ज्ञान-आदि के अभाव के कारण वे जगत् के कर्त्ता नहीं हो सकते । यदि यह स्वीकार किया जाय कि परम पुरुष की छाया से चेतनत्व लाभ कर वह प्रधान जगत्-कर्त्ता बना है, तो चेतनत्व पुरुष का ही हुआ । जिस प्रकार तप्त लोहे में जो ज्वलन शक्ति है वह लोहे की शक्ति नहीं परन्तु अग्नि की शक्ति है ॥९॥

ईदृशस्य न कर्त्ता स्याज्जीवः शक्तेरदर्शनात्॥१०॥

इस प्रकार के जगत् का सृष्टि-कर्त्ता जीवात्मा नहीं हो सकता क्योंकि उसमें ऐसी शक्ति नहीं दिखती है ॥१०॥

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

अदृष्टद्वारा जीवो जगत्कर्त्तेति केचिदाहुस्तान्निरस्यति-ईदृशस्येति। अनेकैर्महीधरैः सागरैश्चात्यद्भुतैरुपेतस्य चतुर्दशभुवनात्मकस्यानन्तकर्त्तृभोक्तृयुक्तस्यासंख्येय-भोग्यभोगस्थानस्यातर्क्यरचनस्य जगत इत्यर्थः। तदयम्प्रयोगः--जीवोऽस्मदादिर्न जगत्कर्त्ता, तादृश-तन्निर्माणे तस्य शक्त्यभावात्। व्यतिरेके ईश्वरवत्। नचादृष्टं शक्तिः। ईदृशस्यादृष्टस्यानुपार्जनात्। न च सर्वादृष्टं तत्र द्वारम्। सर्व्वैः सम्भूय तादृगदृष्टमुपार्जितमित्यर्थे श्रुत्यादि-प्रमाणाभावादिति तुच्छमेतत्॥१०॥

अनुवाद

अदृष्ट के द्वारा जीव ही जगत् के कर्त्ता हैं - कुछ लोगों द्वारा ऐसा भी कहा जाता है । इसका निरसन करते हैं इस श्लोक में । अनेक पर्वत अति अद्भुत सागर आदि के द्वारा सुशोभित यह चतुर्दश-भुवनात्मक जगत् है। अनेक कर्त्ता, असंख्य भोक्ता, असंख्य भोग्य व असंख्य भोग स्थान द्वारा अति रमणीय एवं अचिन्तनीय रचना कौशल से युक्त है यह जगत् । अपने जैसे जीव इस प्रकार के जगत् के कर्त्ता नहीं हो सकते क्योंकि इस प्रकार का निर्माण कार्य करने की उनमें शक्ति का अभाव है । व्यतिरेक में यह ईश्वरवत् हो जाता है। यह अदृष्ट, सृष्टि की शक्ति नहीं है। क्योंकि इस प्रकार के अदृष्ट का उपार्जन नहीं दिखता है । न ही सभी के अदृष्टों के सम्मिलन से सृष्टि करने की शक्ति आती है। इस प्रकार के अदृष्ट का उपार्जन से सम्बन्धित श्रुति-प्रमाण के अभाव से सभी द्वारा इस मत को तुच्छ माना जाता है ॥१०॥

अतो ज्ञानादिभिर्धर्म्मैर्विशिष्टस्त्रिभिरीश्वरः।
एतस्य जगतः कर्त्ता स नित्यः सदकारणः॥११॥

अतः ईश्वर इस जगत् के कर्त्ता हैं जो ज्ञान-आदि तीन धर्मों (ज्ञान, इच्छा एवं प्रयत्न) से विशिष्ट हैं। वे नित्य हैं एवं उनके अस्तित्व का कोई कारण नहीं है ॥११॥

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

तर्हि कोऽस्य जगतः कर्त्तेति चेत्तत्राह-अत इति। परमाणुषु सङ्घातकर्त्तृतायाः प्रधाने परिणामकर्त्तृतायाश्चासम्भवाज्जीवे जगन्निर्माणशक्तेरदर्शनाच्चेत्यर्थः। ईश्वर एव जगत्कर्त्ता भवद्भिरनुमातव्यो गले निपतित इति भावः। तदयं प्रयोगः - इदं जगत् सकर्त्तृकं, सावयवत्वात्, घटादिवत्। यन्नैवं तन्नैवम्। यथा परमाणुर्यथाचाकाशमिति। तत्कर्त्ता चेश्वर एव। तस्यैव सर्व्वज्ञस्य सत्येच्छस्य द्व्यणुकमहीधरसागरादि-जगन्निर्माणे शक्तत्वात्। नन्वनेनानुमानेन तत्कर्त्ता सिद्धो न तु तत्कर्त्तृत्वनिर्व्वाहकं ज्ञानेच्छादीति चेत्तदपि नैव धर्म्मिग्राहकेण सिद्धति इत्याह - ज्ञानादिभिस्त्रिभिर्विशिष्ट इति। तेनानुमानेन जगत्कर्त्तृतया सिद्ध्यन् धर्मीश्वरः स्वकर्त्तृत्व-निर्वाहकं ज्ञानेच्छाप्रयत्नलक्षणं धर्म्मत्रयमादायैव सिध्यति, लोके तद्वतः कर्त्तृत्वदर्शनादित्यर्थः। नन्वस्तीश्वरो जगत्कर्त्ता किन्त्वनित्यः सः। जगत्कर्त्तृत्वाच्चतुर्मुखवदिति चेत्तत्राह - स इति। हेतुगर्भं विशेषणम्। तदयं प्रयोगः - ईश्वरो नित्यः सन्त्वसत्कारणकत्वात्। यन्नैवं तन्नैवं यथा घट-प्रागभावो यथा च घटः। घटप्रागभावस्याकारणत्वेऽप्यसत्त्वात्। घटस्य सत्त्वाऽपि सत्कारणकत्वात्, न नित्यत्वमधिकन्तु स एव मूलमित्यत्र (१/१९) वक्ष्यते एतेनेश्वरः क्षणिकः सत्त्वात्। यत् सत् तत् क्षणिकं; यथा मेघ इत्यनुमानं निरस्तम्। न च सत्त्वादिति सद्धेतुः, व्याप्यत्वासिद्धत्वात्। तत्त्वञ्च व्याप्तिग्राहक-प्रमाणाभावात्। न च सत्त्वस्य हेतोः क्षणिकत्वेन सह व्याप्तौ प्रमाणं निश्चितं, सतः शैलादेः क्षणिकत्वादर्शनात्; एवमेतद् वेदेपि निरस्तं वेदितव्यम्॥११॥

अनुवाद

तो इस जगत् के कर्त्ता कौन हैं ? इसका उत्तर देते हैं इस श्लोक में - परमाणुओं में अपना ही सङ्घात कराने की क्षमता एवं प्रधान में परिणामकर्त्तृत्व का होना असम्भव है। जीव में जगत् के निर्माण करने की शक्ति नहीं दिखती। अतः ईश्वर जगत्कर्त्ता हैं - यह आप लोगों को स्वीकार करना ही होगा। इसको इस प्रकार समझना होगा - इस जगत् के कोई कर्त्ता हैं क्योंकि इस जगत् के अवयव हैं। दृष्टान्त है - घट। यदि इस प्रकार के अवयव न हों तो उसका निर्माण भी नहीं होता है, जैसे परमाणु अथवा आकाश। वह कर्त्ता ईश्वर ही हैं क्योंकि वह सर्वज्ञ और सत्यसङ्कल्प ईश्वर ही अणु, द्विअणु व परमाणु क्रम से पर्वत व सागर आदि युक्त जगत् के निर्माण में सक्षम हैं। अब संशय होता है - इस अनुमान के द्वारा ईश्वर जगत् के कर्त्ता हैं यह तो

सिद्ध हुआ परन्तु उनका कर्तृत्व निर्वाहक ज्ञान-इच्छा-आदि तो सिद्ध नहीं हुआ । इस संशय का निराकरण इस प्रकार करते हैं कि धर्म-धर्मी सम्बन्ध में धर्मी की ही ग्राहकता होती है अर्थात् धर्म जिनका है वे कार्य कर सकते हैं परन्तु स्वयं धर्म कार्य सम्पादन करने में अक्षम है। अतः ज्ञान, इच्छा व प्रयत्न इन तीन धर्मों को ग्रहण कर ही धर्मी ईश्वर जगत् का निर्वाह करते हैं । इस लोक में भी धर्म को ग्रहण कर धर्मी का ही कर्तृत्व दिखता है।

अब यह संशय उठता है कि ईश्वर को जगत्-कर्त्ता के रूप में माना जा सकता है परन्तु वे अनित्य ही होंगे, जैसे जगत्कर्त्ता चतुर्मुख ब्रह्मा हैं । इसके निराकरण के लिए श्लोक में कहते हैं -"स नित्यः" (वह ईश्वर नित्य हैं)। इसको इस प्रकार समझा जाता है । ईश्वर नित्य हैं क्योंकि उनका अस्तित्व है परन्तु उनके अस्तित्व का कोई कारण नहीं है । इसी प्रकार यदि किसी का अस्तित्व है एवं उस अस्तित्व का कोई कारण भी है तो वह नित्य नहीं हो सकता जिस प्रकार कोई घट अथवा घट का प्रागभाव। घट का प्रागभाव अकारण होने पर भी, उसका अस्तित्व नहीं है, एवं घट की सत्ता होने पर भी उसका कुम्हारादि कारण विद्यमान् हैं। अतः उभय अनित्य हैं। अधिक १-१६ में द्रष्टव्य है।

ईश्वर के अस्तित्व के कारण वह क्षणिक है। जिसका अस्तित्व है वही क्षणिक है, जिस प्रकार मेघ - इस अनुमान का भी इससे निरसन हुआ । सत्ता के हेतु का अस्तित्व हो, यह सुनिश्चित नहीं है, क्योंकि उसका व्याप्यत्व असिद्ध है, अर्थात् सर्वत्र दृष्ट नहीं है। सत्ता के कारण ही क्षणिकत्व हो - यह निश्चित नहीं है। जैसे पर्वत का क्षणिकत्व नहीं दिखता है । इस प्रकार यह समस्त संशय वेद के लिए भी निरस्त हुए ॥११॥

निर्दोषेश्वर वाक्यत्वाद्वेदः प्रमाण्यमश्नुते॥१२॥

उस निर्दोष (भ्रमादि चार प्रकार के दोषों से मुक्त) ईश्वर का वाक्य होने के कारण वेद का भी प्रामाण्य स्थापित होता है ॥१२॥

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

एवं ज्ञानादिगुणकमीश्वरं नित्यमापाद्य तद्वाक्यत्वाद् वेदस्य प्रामाण्यं ग्राहयति—निर्दोष इति। भ्रमः प्रमादो विप्रलिप्सा करणापाटवञ्चेति वक्तृदोषा भवन्ति। तद्रहितेनेश्वरेण वक्त्रा प्रयुक्ते वेदवाक्ये दोषवत्पुरुषाप्रणीतत्वेन प्रामाण्यस्य सहचारात्। तेनैव हेतुना तस्मिन् प्रामाण्यं सिद्धम्। दोषवत्पुरुष-प्रणीतन्तु वाक्यमप्रमाणं, यथा कापिलादितन्त्रम्। अयमर्थः-'छन्दान्सि जज्ञिरे तस्मात्' (ऋक् १०.९०.९) इत्यादि श्रुतेरीश्वरजन्यत्वेन यद्यपि वेदस्यानित्यत्वमसन्देहं, तथापि निर्दोषसर्वज्ञकृतत्वात् तस्य प्रामाण्यमबाधं, यथार्थज्ञानकारणत्वात्। कपिलादेस्तु जीवत्वेन भ्रमादिदोष-सम्भवात्

तद्वाक्यमप्रमाणमिति। नन्वृषभस्य बुद्धस्य चेश्वरत्वात्तद्वाक्यं प्रमाणं स्यात्; मैवम्। तस्य तस्य चानुमितेश्वरतयाऽनङ्गीकारात्। ईश्वरः खलु नित्यः सर्व्वज्ञादि-नित्यगुणकोऽनुमितः, स्याद्वादे क्षणिक-विज्ञानवादे च कूटस्थो भावो नास्तीति न तयोस्तादृगीश्वरत्वम्, अतस्तद्वाक्यमप्रामाणम्। किञ्च, न खल्वर्हत्-सिद्धान्त ऋषभेनोपुदिष्टो न चार्हतापि स दृष्टः। किन्तु मायामयीं तच्चेष्टां लोकेभ्यः श्रुत्वा दुरदृष्टभाक् स तां दधार, जनान् दुरदृष्टान् धर्माद्भ्रंशयामास। स चेश्वरः कर्मानुसारिफलमर्पयन्न विषम इति भाष्यपीठके (१/६६) निरूपितम्। बुद्धश्चासुरान् यज्ञाद् भ्रंशयितुमहिंसाव्यपदेशेन तथोपदिदेश, न तु तस्मिन्नुपदेशे तस्य तात्पर्य्यगन्धोऽपीति तत्त्वविदः। तथा च तद्व्यामोहफलकाप्तत्वावरण-पूर्व्वकत्वात्तदुपदेशस्य न प्रामाण्यमिति ॥१२॥

अनुवाद

ज्ञानादि (ज्ञान, इच्छा व कृति) गुणमय ईश्वर नित्य हैं, इसका प्रतिपादन करके वेद का प्रामाण्य स्थापित होता है क्योंकि वेद ईश्वर की वाणी है। यही दर्शाया जा रहा है इस श्लोक में। किसी भी वक्ता में चार प्रकार के दोष विद्यमान् रहते हैं - भ्रम (अर्थात् एक वस्तु को अन्य वस्तु के रूप में धारण करना), प्रमाद (अर्थात् अनवधानता), विप्रलिप्सा (अर्थात् वञ्चन की इच्छा) एवं करणापाटव (अर्थात् इन्द्रियों की अपटुता)।

यह चार दोष लौकिक व्यक्तियों में विद्यमान् रह सकते हैं परन्तु इस दोष-चतुष्टय से रहित वक्ता ईश्वर द्वारा प्रयुक्त वेद-वाक्य में दोष युक्त पुरुष का कोई सम्पर्क न रहने पर वेद वाक्य का प्रामाण्य सिद्ध होता है। दोष युक्त पुरुष के द्वारा प्रणीत वाक्य का अप्रामाण्य होता है जैसे कपिल आदि द्वारा प्रणीत तंत्र आदि। (यहाँ निरीश्वरवादी सांख्य-प्रणेता कपिल ही वाच्य हैं, श्रीमद्भागवतोक्त श्रीकपिलदेव नहीं)। इसका अर्थ इस प्रकार है 'छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्' इस प्रकार के श्रुति-वाक्यों से यद्यपि वेद का अनित्यत्व निःसन्दिग्ध लगता है, तथापि वेद निर्दोष व सर्वज्ञ ईश्वर की कृति होने के कारण एवं यथार्थ ज्ञान से युक्त होने के कारण उसका प्रामाण्य अबाध है। किन्तु कपिलादि के जीव होने के कारण, वे भ्रमादि दोष-चतुष्टय से युक्त हैं, अतः उनके द्वारा रचित वाक्य-आदि यथार्थ प्रमाण के रूप में स्वीकृत नहीं होते हैं। तो फिर ऋषभ एवं बुद्ध के जो वाक्य हैं (अर्थात् जैनवाद व बौद्धवाद) प्रमाण के रूप में स्वीकृत होने चाहिए क्योंकि वे भी ईश्वर थे। परन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि उनके अनुमान में ईश्वर स्वीकृत ही नहीं हैं। यह अनुमित हो चुका है कि ईश्वर नित्य हैं एवं सर्वज्ञ आदि नित्य गुणों के आकर हैं। किन्तु स्याद्वाद में अर्थात् जैनमत में एवं क्षणिक विज्ञानवाद में अर्थात् बौद्धमत में कूटस्थ भाव अर्थात् स्थिर भाव नहीं है। इसलिए उन दोनों का उस प्रकार का ईश्वरत्व नहीं है। इसलिए उनके वाक्य अप्रामाणिक हैं। अर्हत् सिद्धान्त अर्थात् जैनमत ऋषभ मुनि द्वारा उपदिष्ट नहीं है एवं स्वयं अर्हत् ने ऋषभदेव को

देखा भी नहीं था। किन्तु लोकमुख से उनकी मायामयी चेष्टाओं की कथा श्रवण कर दुर्भाग्य-वशतः अर्हत् उन मायामयी चेष्टाओं का अनुसरण कर दुर्भाग्यजन को धर्मभ्रष्ट किये थे। ईश्वर कर्म के अनुसार फल अर्पण करते हैं अतः उनमें वैषम्यदोष नहीं आता है। यह भाष्य पीठक के १.६६ में निरूपित हुआ है। बुद्धदेव भी असुरों को यज्ञों से भ्रष्ट करने के लिए अहिंसा के छल से उपदेश किये थे परन्तु तत्वविद्गण जानते हैं कि उनके उपदेश में उनके अपने तात्पर्य-बोध का गन्ध भी नहीं था। अतः पूर्व कथित कारणों से उनके मोहफल युक्त आप्त-वाक्य के आवरण में उनके उपदेश का कोई प्रामाण्य नहीं है ॥१२॥

धर्म्मिग्राहकमानेन ज्ञानेच्छाकृतयो यथा।
भवेयुरीश्वरे सिद्धास्तथा देहेन्द्रियासवः॥१३॥

धर्म्मि-ग्राहक-प्रमाण से जिस प्रकार ईश्वर में ज्ञान, इच्छा व कृति को माने जाते हैं, उसी प्रकार उनके देह व इन्द्रियों के अस्तित्व को मानना होगा ॥१३॥

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

एवं नास्तिकान् प्रति नित्यो नित्यज्ञानादिगुणक ईश्वरो जगत्कर्त्तृतया साधितः। वेदस्य च सर्व्वज्ञेश्वर-प्रणीतत्वात् प्रामाण्यं साधितं तार्किकमुखेन। तत्रेश्वरस्य सविग्रहत्वं वेदस्य नित्यत्वं च न सिद्धम्। तदिदं द्वयं सात्वतैकदेशि-मतेन साधयितुमाह— धर्मीति। यथा लोके ज्ञानेच्छाकृतिमतः कर्त्तृत्वदर्शनात् कर्त्तृतयानुमिते ईश्वरे कर्त्तृत्व-निर्वाहकं ज्ञानादि धर्म्मिग्राहकेण तेनैवानुमानेन साध्यते। तथा लोके देहादिमतः कर्त्तृत्व-दर्शनात् कर्त्तृत्वनिर्वाहि देहादिकमपि साधनीयमित्यर्थः। कर्त्तृत्वस्य देहादिव्याप्यत्वात्। ननु कुलालादीनां चेष्टां विना कृतिमात्रेण घटादिकरणेऽसामर्थ्याच्चेष्टाश्रयदेहादि भवति सहकारि। ईश्वरस्य तु कृतिमात्रेण सर्वकरणे सामर्थ्यान्न देहादेरपेक्षेति चेत् मैवमेतत्। कर्त्तृत्व-निर्वाहि ज्ञानादिमत्त्वस्येव देहादिमत्त्वस्याप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यांसिद्धिः। यत्र कुलालादिषु कर्तृत्वं, तत्र देहादिसत्त्वं दृष्टम्। यत्र मुक्तात्मसु देहादिमत्त्वाभावस्तत्र न कर्त्तृत्वमिति। न च सावयवत्वेन देहस्याप्यनित्यत्वम्। तस्याकर्म्मजन्यत्वेनानित्यत्वाभावात्। इतरथा ज्ञानस्याप्यनित्यत्व-नियमेन तज्ज्ञानस्यानित्यत्वं स्यात्। ननु चेष्टां विनापि प्रयत्नमात्रेणैव कार्य्यकरणे सामर्थ्यान्नेश्वरस्य चेष्टाश्रय-देहादि स्वीकार्य्यमिति चेन्न, विनापीच्छाप्रयत्नौ ज्ञानमात्रेणैव तस्मिन् सामर्थ्यान्न तत्रेच्छादिकमपि स्वीकार्य्यमित्यपि सुवचत्वात्। ननु देहस्यापरिच्छिन्नत्वनियमेन युगपन्निखिलदेशगत-कार्य्यानुपपत्तिरिति चेन्नैतत् चतुरस्रम्। नित्यस्य तद्देहस्याचिन्त्यशक्त्या सर्वत्र युगपत् सान्निध्यात्। जातिवत्; यथा गोत्वादिजातिः

प्रतिव्यक्तिपर्य्याप्तापि सर्वासु व्यक्तिष्वेका, तथा प्रतिकार्य्यपर्य्याप्तोऽपि तद्देहः सर्वत्रैक एवेति न किञ्चिच्छिन्नम्। यत्तु महत्त्वादुद्भुतरूपत्वाच्च तद्देहस्य प्रत्यक्षतापत्तिरित्युच्यते; तच्चापातरम्यं देवादिदेहवदन्तर्धान-शक्तियोगेन तस्याप्यप्रत्यक्षत्वात्। एतेन कार्य्यस्य देहादिमत् कर्त्तृपूर्व्वकत्वनियमोऽङ्कुरादिषु देहादिमतः कर्त्तुरनुपलम्भान्निरस्त इति प्रत्युक्तम्। यत्तु जीवादृष्ट-सम्पादितं देहादिकमीश्वरो भूतावेशन्यायेनाविश्य कृतकार्य्यस्तदावेशं त्यजति। न तु तस्मिन् स्वाभाविकं देहाद्यस्ति ज्ञानादित्रयातिरिक्त-विशेषधर्माभावादित्याहुस्तदिदं कुबुद्धिविजृम्भितमेव। ईदृश-कल्पनायां प्रमाणाभावात् नित्यदेहत्वे प्रमाण-सत्त्वाच्च। तस्मादीश्वरे ज्ञानादिवद्देहादिकमपि धर्म्मिग्राहकेणैव प्रमाणेन सिद्धम्॥१३॥

अनुवाद

इस प्रकार नित्य ईश्वर को, जो नित्य ज्ञानादि गुण-युक्त हैं, नास्तिकों के लिए जगत्-कर्त्ता के रूप में साधित किया गया। सर्वज्ञ ईश्वर के द्वारा प्रणीत होने के कारण वेद के प्रामाण्य को तर्क के द्वारा साधित किया गया। यहाँ ईश्वर के सविग्रहत्व को तथा वेद के नित्यत्व को अभी भी सिद्ध नहीं किया गया। इन दोनों को सात्वत एक-देशी (श्री कृष्ण-भक्ति) मत से सिद्ध करने के लिए यह श्लोक रचा गया है। इस लोक में ज्ञान, इच्छा व कृति से युक्त व्यक्ति ही कर्त्ता के रूप में दिखता है। तद्रूप जगत्कर्त्ता के रूप में अनुमित ईश्वर में भी कर्तृत्व-निर्वाहक ज्ञानादि उसी धर्म्मि-ग्राहक प्रमाण से ही सिद्ध होता है। उसी प्रकार इस लोक में देह-इत्यादि से युक्त व्यक्ति ही कर्त्ता होता है। इसको देखकर कर्त्तृत्व-निर्वाहक देहादि की आवश्यकता (ईश्वर के लिए) अनुमित होती है। (देहादि के व्यतिरेक से कर्त्तृत्व ही अनुपपन्न होता है)। अब आशंका है कि कुम्भकार आदि की चेष्टा व्यतिरेक से कृतिमात्र से घट आदि के निर्माण का सामर्थ्य नहीं होता है। अतएव उनकी चेष्टा के आश्रय स्वरूप में देहादि का साहचर्य आवश्यक है। किन्तु ईश्वर की कृति अर्थात् प्रवृत्ति मात्र से ही सर्व कार्य करण में सामर्थ्य होता है। इसलिए उनको देहादि की आवश्यकता नहीं है। ऐसा नहीं कहा जा सकता है क्योंकि कर्तृत्व निर्वाह में ज्ञानादि का जिस रूप प्रयोजन है उसी प्रकार अन्वय व व्यतिरेक से देहादि धारण करने की आवश्यकता है। जहाँ कुम्हार आदि में कर्तृत्व दृष्ट होता है वहाँ देह-आदि की विद्यमानता भी दृष्ट होती है, तथा मुक्तगणों में देह इत्यादि का अभाव है तो उनका कोई कर्तृत्व भी दृष्ट नहीं होता है।

अब संशय होता है कि यदि ईश्वर स-अवयव हैं अर्थात् देहयुक्त हैं तो उनका देह अनित्य हो सकता है। ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि उनका देह कर्मजन्य नहीं है, इसलिए अनित्य नहीं है। पक्षान्तर से यदि कर्मजन्य देह ही स्वीकार की जाय तो ज्ञान भी अनित्य हो जाता है। फिर जगन्निर्वाह-आदि समस्त ज्ञान भी अनित्य हो जाते हैं।

यदि ऐसा कहा जाय कि चेष्टा के बिना प्रयत्न मात्र से ईश्वर जगत्-निर्माण आदि कार्य करने में समर्थ हैं, अतः ईश्वर को चेष्टाश्रय देहादि की आवश्यकता नहीं है; ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि इच्छा एवं प्रयत्न व्यतीत ही ज्ञानमात्र से ही वह सम्पादित हो सकता है। इसमें इच्छादि का भी प्रयोजन नहीं है।

यहाँ एक और आशंका आती है ; देह जब अपरिच्छिन्न है तो एक ही समय पर निखिल देश में निखिल कार्य करना सम्भव नहीं है। यह युक्ति भी समीचीन नहीं है कारण ईश्वर का नित्य देह अचिन्त्य शक्ति के द्वारा सर्वत्र युगपत् समुपस्थित रह सकते हैं। इसका दृष्टान्त है - जाति। जिस प्रकार गोत्व प्रभृति जाति की प्रति गो में व्याप्ति होती है और प्रत्येक गो में वह एक ही प्रकार है, उसी प्रकार प्रति कार्य में तत्पर होने पर भी ईश्वर का देह सर्वत्र एक स्वरूप में अवस्थान करते हैं। इसमें कोई दोष नहीं लगता।

देह का परिमाण व प्रकाश्यमान् रूप होता है। अप्रत्यक्षत्व के कारण ईश्वर के देह के अस्तित्व की जो आपत्ति होती है, वह सुनने में रमणीय हो सकता है पर सत्य नहीं है। ईश्वर का देह देवादि देह के न्याय अन्तर्धान शक्ति के प्रयोग से अप्रत्यक्ष हो सकता है। कहा जा सकता है कि बीज के अंकुरित होने में देहादि युक्त कर्त्ता की अनुपलब्धि है। अतः कार्य जगत् का भी देहादियुक्त कर्त्ता नहीं हो सकता है। इस तर्क का भी पूर्व युक्ति से खण्डन हो गया।

कुछ लोगों का कहना है कि ईश्वर भूत-आवेश के न्याय किसी अदृष्टवान् जीव के देह में आविष्ट होकर कार्य सम्पादन करते हैं। कार्य समाप्ति के बाद वे आवेश भी त्याग देते हैं, उनका अपना कोई स्वाभाविक देहादि नहीं है क्योंकि ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न आदि व्यतिरेक से उनका कोई और विशेष धर्म है ही नहीं। ऐसी उक्ति कुबुद्धिवाले और बड़े मुँह वालों का है क्योंकि इस प्रकार की कल्पना का कोई प्रमाण नहीं है। परन्तु ईश्वर के नित्य देह के विषय में बहुशः प्रमाण शास्त्रों में उपलब्ध हैं। अतः ईश्वर का ज्ञानादि धर्मत्रय के समान उनका देह-आदि नित्य हैं। यह धर्मि-ग्राहक प्रमाण के बल से सिद्ध हुआ ॥१३॥

यथा ज्ञानादिकं नित्यमीश्वरस्य प्रकीर्त्त्यते।
तस्य निःश्वसित-वेदस्तथा नित्यः प्रकीर्त्त्यताम्॥१४॥

जिस प्रकार ईश्वर के ज्ञान-आदि धर्मों को नित्य माना जाता है, उसी प्रकार उनके द्वारा निःश्वसित वेद नित्य माने जाएँ ॥१४॥

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

ननु प्रकृते किमागतं तत्राह-यथेति। यथेश्वरे कर्त्तृता-निर्वाहकं ज्ञानादित्रयं धर्मिग्राहकमानेन तार्किकेण स्वीकृतं, नास्तिकान् प्रति युक्तिकशया तत् स्वीकारितं, तथाऽस्माभिस्तार्किकान् प्रति तथैव तन्निर्वाहकं देहादि स्वीकारितम्। यथेश्वरस्य

ज्ञानादिकमैश्वरत्वान्नित्यं, तथा तन्निःश्वसितरूपो वेदोऽप्यैश्वरत्वादेव नित्य इत्यनिच्छद्भिरपि तैः स्वीकार्य्यम्। एतेन 'छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्' इति जन्यत्व-श्रवणात् वेदस्याप्यनित्यत्वं यन्मन्यते, तन्निरस्तम्। जनेः प्रादुर्भावार्थकत्वेन विवक्षित-व्याघातात्। यच्च 'त्रयो वेदस्य कर्त्तारो मुनिभण्ड-निशाचराः' इति सौगतैर्वेदस्य मुन्यादिरचितत्वमुक्तं, तदपि प्रत्युक्तम्। ते हि पापवासनाभ्युदिताद्विद्वेषात् तथा कल्पयन्ति। यत्तु निःश्वसितस्य वायुरूपत्वात्तस्याक्षर- राशिरूपत्वमसम्भवमित्याहुस्तदपीषद्धिषणम्। अविचिन्त्यत्वेन तत्सम्भवात्। न ह्यस्मत्प्राणवत्तत्प्राणो वायुरूपः, किन्त्वैश्वरत्वात्तद्विलक्षण एवेति किमनुपपन्नम्। अपि च जलादेः कथञ्चिदग्न्यादिरूपत्वं स्याद्वादे विज्ञानस्य घटाद्यर्थाकारत्वं विज्ञानवादे बहुत्वं-संख्यायाः कार्य्यस्थौल्यारम्भकत्वमारम्भवादे ब्रुवन्तस्ते त्रयस्तन्निःश्वसितस्यातर्क्यस्याक्षरराशिरूपत्वं वक्तुं कथं त्रपन्ते ॥१४॥

अनुवाद

इस सन्दर्भ में अब कौन सा विषय आ गया? इस श्लोक में कहते हैं। ईश्वर का कर्तृत्व निर्वाहक ज्ञान, इच्छा व प्रयत्न जिस रूप से धर्मि-ग्राहक प्रमाण के बल पर तार्किकगणों ने स्वीकार किया है, नास्तिक गणों को भी युक्ति के द्वारा यह स्वीकार कराया गया है। उसी प्रकार तार्किकगणों को जगत् कर्तृत्व निर्वाहक देह इत्यादि के अस्तित्व को भी स्वीकार कराया गया है। ईश्वरत्व के कारण उनका ज्ञानादि जिस प्रकार नित्य है उसी प्रकार उनके निःश्वास रूप वेद भी ईश्वरत्व सम्बन्धी होने के कारण नित्य हैं, यह अनभिप्रेत होने पर भी स्वीकार करना ही होगा। श्रुतियों की उक्ति 'छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्' से जिस प्रकार वेद की उत्पत्ति का आभास होता है और उनके अनित्यत्व का संशय होता है, पूर्वोक्त युक्ति के द्वारा उसका खण्डन हुआ। वास्तव में जन् धातु का अर्थ आविर्भाव के अर्थ में भी होता है। जो अप्रकट था वह प्रकट हुआ। इस अर्थ में नित्यत्व की हानि नहीं होती है।

बौद्ध एवं चार्वाक ग्रन्थों में उक्त है- 'त्रयो वेदस्य कर्त्तारः मुनिभण्डा निशाचराः।' (अर्थात् वेद के तीन कर्त्ता हैं - मुनि, भण्ड एवं निशाचर) यहाँ पर वेद के प्रसंग में जो मुनि आदि द्वारा रचित बोला गया है, उसको भी निरस्त किया गया। वे लोग पाप वासना से विद्वेष-वशतः ऐसी दुरुक्ति किये हैं।

यह उक्ति भी अल्प बुद्धि वालों का है कि वेद ईश्वर का निःश्वास है तो वायु-रूप होने के कारण उनका अक्षर-रूप होना असम्भव है। ईश्वर की अचिन्त्य शक्ति के बल से निःश्वास भी अक्षर राशि के स्वरूप में परिणत हो सकता है। उनका प्राणवायु मनुष्य के प्राणवायु के समान नहीं है। उनके ईश्वरत्ववशतः वह सर्वथा विलक्षण ही हैं। इससे क्या अनुपपन्न हुआ? स्याद्वादियों के मत में जलादि का भी किसी प्रकार से अग्नि आदि रूपत्व होता है। विज्ञानवादियों

के मत में विज्ञान का घट आदि वस्तु का आकार होता है । आरम्भवाद में बहुत्वसंख्या (परमाणु) का कार्य स्थूलत्व प्राप्ति होती है । इस प्रकार के मत जिनके हैं उनके लिए ईश्वर के अविचिन्त्य निःश्वास का अक्षर राशि स्वरूपत्व स्वीकारने में लज्जा क्यों होती है ? ॥१४॥

वेदस्यापौरुषेयत्वमेवं केचित् प्रचक्षते।
'वेदस्याध्ययनं सर्व्वं गुर्व्वध्ययन पूर्व्वकम्।
वेदाध्ययन सामान्यादधुनाध्ययनं यथा'॥१५॥

वेद के अपौरुषेयत्व को कुछ लोग इस प्रकार बताते हैं- "वेदाध्ययन सर्व्वदा श्री गुरु से ही किया जाता है, एवं यही वेदाध्ययन का सामान्य सिद्धान्त है। यह उसी प्रकार है जिस प्रकार आज भी दिखता है।" ॥१५॥

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

अथ वैदिकैकदेशिमतेन वेदस्यापौरुषेयत्वं तावदाह-ननु वेदः पौरुषेयः, शास्त्रत्वात् स्मृतिशास्त्रवत् काठकादि-संज्ञातश्चेति चेत्तत्राह-वेदस्येति। केचिदिति अस्मदुक्तलक्षणं वेदमस्वीकुर्वन्तः कर्मजड़ा इत्यर्थः। अपौरुषेयत्वे तेषामनुमानं दर्शयति-वेदस्येति। वेदाध्ययनं सामान्यं पक्षं कृत्वा गुर्वध्ययन-पूर्वकत्वे साधिते परिशिष्टमपौरुषेयत्वं सिध्येदेवेति भावः ।।१५।।

अनुवाद

वैदिक एकदेशी मत (मीमांसकों के मत) में वेद का अपौरुषेयत्व इस प्रकार है । पूर्व-पक्ष में वेद पौरुषेय ही होगा क्योंकि स्मृतिशास्त्रवत् वह भी एक शास्त्र है, उसमें काठक आदि संज्ञा विद्यमान् हैं। इस पूर्व पक्ष के खण्डन में यह श्लोक रचा गया है। यहाँ केचित् (कुछ लोग) का अर्थ है वह कर्मजड़ लोग जो वेद को हमलोगों द्वारा उक्त लक्षणों से युक्त नहीं मानते हैं। अपौरुषेयत्व के विषय में उन लोगों का अनुमान दर्शाया जाता है इस श्लोक में। वे लोग वेदाध्ययन को सामान्य पक्ष करते हैं। उसका अध्ययन गुरु के निकट होता है - यह साधित करके वेद के अपौरुषेयत्व को सिद्ध करते हैं। (अर्थात् जिन गुरु से वेदाध्ययन किया जाएगा, वे भी निज गुरु से वेदाध्ययन किए होंगे। अतः कोई व्यक्ति इसकी रचना कर के इसका अध्ययन नहीं करा सकता है। अतः वेद अपौरुषेय है।) ॥१५॥

तृतीयक्षणविध्वंसो यः शब्दस्योच्यते परैः।
स तु भ्रमः स्यान्नित्यस्य तिरोभावस्तु युज्यते॥१६॥

जो अपर लोगों का कहना है कि तृतीय क्षण में शब्द का विनाश हो जाता है, वह भ्रमित मत है। वास्तव में नित्य शब्द का मात्र तिरोभाव होता है, विनाश नहीं ॥१६॥

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

वेदानित्यत्वादिनस्तार्किकांस्तन्मुखेन निराकरोति। ननु वेदो नित्यो न, शब्दराशित्वात्। शब्दस्य चोत्पन्नः खो विनष्टः क इति बुद्धेरनित्यत्वमसन्देहमिति चेत्तत्राह-तृतीयेति। शब्दस्य तृतीयक्षणध्वंस-प्रतियोगित्वं यत्तद्बुद्ध्युदयात्तार्किकैरुच्यते, स खलु भ्रम एव। तथा ब्रुवन्तस्ते भ्रान्ता इत्यर्थः। वस्तुतस्तु नित्यस्य तस्य तिरोभाव एव युक्त इत्याह-नित्यस्येति। तदयं प्रयोगः-शब्दो नित्यः, नित्याकाशगुणत्वादा-काशनिष्ठमहापरिमाणवत्। व्यतिरेके घटादिनिष्ठह्रस्वत्वादिवत्। अनित्यत्वे शब्दगुणमाकाशमिति लक्षणासिद्धिः। वायु-प्रेरणाप्रेरणाभ्यां शब्दस्य व्यक्त्यव्यक्ती स्यातां न तु स्वरूप-विनाशात्मा ध्वंसः। न हि घटे गृहान्तर्निहिते तस्य ध्वंसः शक्यते वक्तुम्। व्यक्त्यव्यक्ती आविर्भावतिरोभावौ। एवञ्च शब्दमात्रस्य नित्यत्वं सिद्धमित्याकाशे नित्यत्वाश्रयेण तार्किकमतेनानुमानमेतत्। तदनित्यत्ववादे त्वापेक्षिकं 'तदमृता देवा' इतिवत्॥१६॥

अनुवाद

वेद के अनित्यत्ववादी तार्किकगणों के मत का उन्हीं की उक्ति से निरसन कर रहे हैं। उनकी उक्ति है कि वेद नित्य नहीं हो सकता क्योंकि वह शब्दराशिमय है। उनके अनुसार शब्द निःसन्देह ही अनित्य है क्योंकि जहाँ 'ख' वर्ण उत्पन्न हुआ वहाँ 'क' वर्ण नष्ट हो गया। इसके उत्तर में कहते हैं कि तार्किकों की बुद्धि से उत्पन्न जो यह मत है कि शब्द तृतीय क्षण में नष्ट हो जाता है, यह भ्रम है। अर्थात् इस प्रकार बोलते हुए वे भ्रान्त हैं। वस्तुतः नित्य शब्द का तिरोभाव-मात्र होता है। इसका प्रयोग इस प्रकार है। शब्द नित्य है क्योंकि यह नित्य आकाश का गुण है। जिस प्रकार आकाश का महापरिमाण नित्य है, उसी प्रकार उसका गुण शब्द भी नित्य है। व्यतिरेक से घट आदि में स्थित ह्रस्वत्व आदि है। अर्थात् घट के अभाव से जिस प्रकार उसमें स्थित ह्रस्व परिमाण आदि का निर्णय नहीं हो सकता है, महा आकाश में उस प्रकार नहीं होता क्योंकि महाकाश का अभाव की कोई कल्पना भी नहीं कर सकता है। यदि यह शब्द अनित्य हो तो "शब्दगुणमय आकाश" यह लक्षण भी असिद्ध हो जाता है। मूल बात यह है कि वायु के प्रेरण या अप्रेरण द्वारा शब्द की अभिव्यक्ति या अनभिव्यक्ति होती है। परन्तु स्वरूपतः शब्द का विनाश रूपी ध्वंस कभी नहीं होता है। कोई घट यदि गृह के अभ्यन्तर में स्थापित कर दिया जाए तो ऐसा नहीं बोला जा सकता है कि उसका ध्वंस हो गया। उसका केवल आविर्भाव व तिरोभाव

होता है, क्योंकि वह केवल व्यक्त अथवा अव्यक्त होता है। इस प्रकार तार्किकों के मत के अनुसार आकाश के नित्यत्व के आश्रय से शब्दमात्र का नित्यत्व सिद्ध हुआ। आकाश के अनित्यत्ववाद में यह नित्यत्व आपेक्षिक है, जैसे देवताओं का अमर होना आपेक्षिक है ॥१६॥

ईश्वरो विभु विज्ञान-सुखात्मा श्रुतिभिर्मतः।
विज्ञानघनशब्दादेर्मूर्त्तः स तु तथाविधः॥१७॥

ईश्वर विभु हैं एवं विज्ञान-आनन्द-स्वरूप हैं। ऐसा श्रुतियों का मत है। श्रुति में विज्ञानघन इत्यादि शब्दों से उनकी मूर्त्ति का बोध होता है। यही उनका वास्तविक स्वरूप है ॥१७॥

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

एवं तार्किकयुक्त्या नास्तिकान् प्रतीश्वरवेदौ जगत्कर्त्तृप्रमाणभूतौ निरूप्य सात्वतैकदेशियुक्त्या च तार्किकान् प्रति तौ सविग्रहनित्यौ प्रदर्श्य तेषु चार्जवं गतेषु तयोर्याथात्म्यं श्रुति-नयेन स्वयं वक्तुं-प्रवर्त्तते ईश्वर इत्यादिभिः। विभुविज्ञानानन्दरूपो य आत्मा स एवेश्वरो, न तु विद्योपाधिः सत्त्वतनुः। विज्ञानमानन्दं ब्रह्म महान्तं विभुमात्मानमित्यादि श्रुतिभ्यः। स च तथाभूतो मूर्त्त एवेत्याह-विज्ञानेति। विज्ञानघनानन्दघनेत्यादि श्रुतेरेवेत्यर्थः। 'मूर्त्तौ घन' इति भगवान् पाणिनिः। काठिन्येऽर्थे हन्तेरप् घनश्चादेश इति सूत्रार्थः। अन्यथाश्रुतिर्व्याकुप्येत। तस्य मूर्त्तत्वं त्वचिन्त्यशक्तिसिद्धम्।'अचिन्त्यशक्तिः पुरुषः पुराणः' इत्यादिश्रुतेः॥१७॥

अनुवाद

इस प्रकार तार्किक युक्तियों के द्वारा नास्तिकों के प्रति ईश्वर को जगत्कर्त्ता के रूप में एवं वेद को प्रमाण के रूप में दिखाया गया। तार्किकों को श्री कृष्णभक्ति सम्बन्धित युक्ति से उनके सविग्रहत्व को दिखाया गया एवं वेद के नित्यत्व को दिखाया गया। इन विषयों में कुछ सरलता आने पर, उनका याथात्म्य श्रुतियों के आधार पर बोला जा रहा है इस श्लोक में। श्रुतिओं के मत में जो आत्मा विभु, विज्ञानानन्द स्वरूप हैं वही ईश्वर हैं। किन्तु विद्या उपाधि युक्त सत्वतनु "ईश्वर" पदवाच्य नहीं होते हैं। इस विषय में श्रुति प्रमाण हैं। श्रुतियों में उक्त हैं "विज्ञानं आनन्दं ब्रह्म" (बृ० उप० ३.९.२८) अथवा "महान्तं विभुमात्मानम्" (कठ-उप० १.२.४) इत्यादि। वे ईश्वर वास्तव में मूर्त्त हैं, ऐसा ही यह श्रुति वाक्य विज्ञानघन इत्यादि शब्दों से बोलते हैं। "मूर्त्तौ घनः" इस प्रकार भगवान् पाणिनि (अष्टाध्यायी ३.३.७७) ने बोला है। (अर्थात् 'घन' शब्द का मूर्ति अर्थ ग्रहण करना होगा)। इस सूत्र का अर्थ है कि 'हन्' धातु का काठिन्य के अर्थ

में अप् प्रत्यय से ''घन'' आदेश होता है। उनका मूर्त्तत्व अर्थात् उनका रूप अचिन्त्य-शक्ति से सिद्ध होता है क्योंकि श्रुति कहते हैं, ''अचिन्त्यशक्तिः पुरुषः पुराणः'' ॥१७॥

विशेषाद्देहिभावेन गुणित्वेन च स प्रभुः।
सत्तास्तीत्यादिवद्भाति विदुषामपि सर्व्वदा॥१८॥

भेद-शून्य प्रभु ''विशेष'' से देह-देही भाव से अथवा गुण-गुणी भाव से विद्वानों के लिए सर्वदा भाते हैं । भेद-शून्य वस्तु में यह भेद उस प्रकार है जैसे ''सत् का अस्तित्व है'' इत्यादि वाक्यों में ॥१८॥

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

स निर्भिन्न एवेश्वरो विशेषबलाद्देहदेहिभावेन गुणगुणिभावेन च विदुषामपि भासते। सत्ता सती कालः सर्व्वदास्तीत्यादौ सत्तादेः सत्ताद्याश्रयत्ववत्। न च सत्ता सतीत्यादि-बुद्धिर्भ्रमः। सन् घट इत्यादिवदबाधात्। न चारोपः। सिंहो देवदत्तो नेतिवत् सत्ता सती नेति कदाप्यव्यवहारात्। न च सत्तादेः सत्ताद्यन्तराभावेऽपि स्वभावादेव सतीत्यादि-व्यवहारः। तस्यैवेह तच्छब्देनोक्तेः। तस्मान्निर्भेदेऽपि वस्तुनि भेदव्यवहारो विशेषादेव। विशेषश्च भेद-प्रतिनिधिर्न भेदः। स चार्थापत्तिसिद्धोऽवश्यमभ्युपेयः; तं विना विशेषण- विशेष्यभावादिकं न सम्भवेत्। स च वस्त्वभिन्नः, स्वनिर्वाहकश्चेति नानवस्था। तस्य तादृशत्वञ्च धर्मिग्राहकप्रमाणसिद्धं जगत्कर्त्तुरिव सार्वज्ञादीत्यधिकन्तु भाष्यपीठक (१/१५-२२) स्यमन्तकेषु (२/२३) विलोकनीयम्॥१८॥

अनुवाद

वह भेद रहित (सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेद रहित) ईश्वर 'विशेष' के बल से देह-देही भाव से एवं गुण-गुणी भाव से विद्वानों के निकट प्रकट होते हैं । यह उस प्रकार है जैसे "सत्ता का अस्तित्व है" अथवा "काल सर्व्वदा है" इत्यादि वाक्यों में सत्तादि का आश्रय सत्तादि ही है। सत्ता का अस्तित्व है- इस प्रकार के वाक्य बुद्धि के भ्रम नहीं हैं। "घट है" इस वाक्य में "घट का अस्तित्व है" यह अर्थ बिना किसी बाधा के ही समझा जा सकता है। उसी प्रकार "सत्ता का अस्तित्व है" इस वाक्य में भी कोई बाधा नहीं हैं। इसमें सत्ता के विद्यमानता को ही समझना होगा।

यहाँ आरोप भी नहीं है । "देवदत्त सिंह है" - इस वाक्य में सिंह के कुछ गुणों का आरोप देवदत्त में किया गया है । ऐसे में "देवदत्त सिंह नहीं है" - ऐसा कहा जा सकता है। उस

प्रकार "सत्ता का अस्तित्व नहीं है" कभी भी कहा नहीं जा सकता है। अतः यह आरोप नहीं कहा जा सकता है।

ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है कि सत्ता एवं उसके अस्तित्व में अभेद होने पर भी जो "सत्ता का अस्तित्व है" इत्यादि व्यवहार दिखता है, वह उसके स्वभाव के कारण है एवं "स्वभाव" शब्द से ही उसे जानना होगा। कहते हैं कि निर्भेद वस्तु में भी जो भेद-व्यवहार दिखता है वह "विशेष" के कारण होता है। "विशेष" भेद का प्रतिनिधि है, भेद नहीं। इस विशेष को अर्थापत्ति-प्रमाण बल से अवश्य स्वीकार किया जा सकता है क्योंकि उसके बिना विशेषण-विशेष्य भावादि का होना सम्भव नहीं है। यह ''विशेष'' वस्तु से अभिन्न है एवं स्वयं ही अपना निर्वाहक है। अतः इसमें अनवस्था का दोष नहीं होता है। इसका ऐसा रूप धर्म्मि-ग्राहक प्रमाण के बल से सिद्ध हुआ जिस प्रकार जगत्-कर्त्ता का सर्व्वज्ञादि गुण हैं। अधिक भाष्य-पीठक (१.१५-२२) एवं वेदान्त-स्यमन्तक (२.२३) में द्रष्टव्य हैं। ॥१८॥

स मूलं किल सर्व्वस्य न मूलं तस्य विद्यते ॥१९॥

वे प्रभु सब के मूल हैं। परन्तु उनका मूल नहीं है ॥१९॥

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

ननु जगन्मूलतया कीर्त्त्यमानस्यापि विरिञ्चादेर्नारायण-मूलकत्वकीर्त्तनान्नारायणस्यापि किञ्चिन्मूलं भावीति चेत्तत्राह- स मूलमिति। स परेशो नारायणः सर्वस्य कार्यस्य मूलम्। 'मूलं विष्णुर्हि देवानाम्' इत्यादि-वचनेभ्यः। न हि तस्य मूलमस्ति, मूले मूलादर्शनात्। एवमेवाह कपिलो मूलप्रकृति निरूपयन्-मूले मूलाभावादमूलं मूलमिति। सर्वेषां वादिनां खलु मूलकारणं किञ्चिदभ्युपेयम्, अन्यथानवस्थापत्तिर्दुर्व्वारा विरिञ्चादेर्मूलत्वन्तु भ्रान्तानुवादरूपमतो न तेषां तत्वं। यत्त्वया मूलं वक्तव्यं तदस्माकं नारायण इति॥१९॥

अनुवाद

जगत् के मूल के रूप मे जो विरिञ्चि आदि कीर्त्तित हैं उनके मूल के रूप में नारायण कीर्त्तित हैं। तो हो सकता है कि नारायण के भी कोई मूल हों। इसके उत्तर में यह श्लोक कहा गया है। परमेश्वर नारायण ही सभी कार्यों के मूल हैं। श्रीमद्भागवत महापुराण (१०.४.३९) में कहा गया है ''मूलं विष्णुर्हि देवानाम्'', अर्थात् श्री विष्णु ही सभी देवताओं के मूल हैं। इन वचनों से यह ज्ञात होता है कि श्री नारायण ही सबके मूल हैं। उनका कोई मूल नहीं है क्योंकि मूल का मूल नहीं दिखता है। मूल प्रकृति के निर्णय में कपिलदेव जी ने भी ऐसा बोला है- ''मूले मूलाभावादमूलं

मूलम्" अर्थात् मूल में मूल का अभाव होता है, इसलिए मूल सदा अमूल होता है । सभी वादों में एक मूल कारण माना ही जाता है अन्यथा अनवस्था का दोष दुर्वार हो जाता है । विरिञ्चि प्रभृति का जो मूलत्व है वह भ्रान्त मत ही समझना होगा । उसमें कोई वास्तवत्व नहीं है । अतः आप द्वारा जो मूल बताया जा रहा है वह हमलोगों के नारायण ही हैं ॥१९॥

अचिन्त्यशक्तिसन्बन्धाद्वेदरूपो विभात्यसौ ॥२०॥

यह ईश्वर, अपने अचिन्त्य शक्ति से सम्बन्धित होकर वेद के रूप में प्रकाशित होते हैं ॥२०॥

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

एवं धर्म्मिणमीश्वरं नित्यमापाद्य वेदं नित्यमापादयति—अचिन्त्येति। असौ चतुर्भुजदेवाकारो नारायणो यथाऽचिन्त्यशक्त्या तद्विलक्षणो हंसादिस्तथा निःश्वसितांशेनाविष्कृताक्षरराशिरनादितो विभातीति नित्यत्वं वेदस्य सिद्धम्। एवमेवोक्तं श्रुतौ—एतद्वै सत्यकाम (प्र० उ० ५.२) इत्यादिना, तथैव षष्ठे–'वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भुरिति शुश्रुम' (६.१.४०) इति॥२०॥

अनुवाद

इस प्रकार धर्म्मी ईश्वर को नित्य-रूप में स्थापित करके वेद को भी नित्य दिखाया जा रहा है इस श्लोक में । चतुर्भुज देव श्री नारायण जिस प्रकार अचिन्त्य-शक्ति के द्वारा हंस आदि विलक्षण रूप प्रकट करते हैं, उसी प्रकार अपने निःश्वसित अंश से अनादि अक्षर राशि प्रकट करते हैं । इस प्रकार वेद का नित्यत्व सिद्ध होता है । श्रुति (प्रश्नोपनिषद् ५.२) में भी इस प्रकार उक्त है 'एतद् वै सत्यकाम' इत्यादि अर्थात् - "हे सत्यकाम यह ओंकार परब्रह्म व अपरब्रह्म है।" इसी प्रकार श्रीमद्भागवत के षष्ठ स्कन्ध (६.१.४०) में उक्त है 'वेदो नारायणः साक्षात्स्वयम्भूरिति शुश्रुम' अर्थात् "वेद साक्षात् नारायण हैं एवं वे स्वयम्भू हैं - ऐसा हमने सुना है ।" ॥२०॥

यदसौ वाचकोऽभ्येति क्रमेणैकेन सर्व्वदा।
आविर्भावमतस्तस्य बुधा नित्यत्वमूचिरे॥२१॥

क्योंकि यह वाचक, अर्थात् वेद, एक ही क्रम से सर्व्वदा (प्रत्येक कल्प में) आविर्भूत होते हैं, इसलिए विज्ञगण इनके नित्यत्व का प्रचार करते हैं ॥२१॥

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

नारायण-रूपत्वान्नित्यत्वं वेदस्य शब्दादापादितम्। अथानुमानेनापि तदाह–यदिति। असौ वाचको वेदो येन क्रमेण यथास्वरवर्णघटितयानुपूर्व्व्या पूर्वकल्पे

ईश्वरादाविर्बभूव, तेनैव क्रमेण परकल्पेऽप्याविर्भवत्यतस्तस्य नित्यत्वं बुधाः स्वायम्भुवादय ऊचिरे। तदयं प्रयोगः—वेदो नित्यः, एकानुपूर्व्विकतया प्रतिकल्पमाविर्भावात्। यथैकस्वभावतया पुनः पुनराविर्भवन् मत्स्यकूर्मादिरीश्वरावतारः। यन्नैवं, तन्नैवं, यथा मुहुर्मुहुः उत्पद्यमानोऽस्मदादिर्जीवदेह इति ॥२१ ॥

अनुवाद

श्री नारायण का रूप होने के कारण, वेद के नित्यत्व को शब्द-प्रमाण के आधार पर स्थापित किया गया । अब, इस श्लोक में, अनुमान के द्वारा यही बताया जा रहा है । यह वाचक वेद, जिस क्रम से, जिस प्रकार के स्वर व वर्णों की व्यवस्था के साथ आनुपूर्व्वी से पूर्वकल्प में ईश्वर से आविर्भूत हुए थे, उसी क्रम से परकल्प में भी इसका आविर्भाव होता है। (आनुपूर्व्वी का अर्थ है कि जिस स्वरूप में वह पूर्वकल्प में था, उसी स्वरूप में वह परकल्प में भी आविर्भूत होगा ।) इसलिए स्वायम्भुवादि मनीषिगण इसके नित्यत्व को बोलते हैं । इसको इस प्रकार समझना है। वेद नित्य है- आनुपूर्व्वी से प्रत्येक कल्प में इसका आविर्भाव होने के कारण । जैसे एक ही स्वभाव वाले मत्स्य, कूर्म्म आदि ईश्वर के अवतार पुनः-पुनः आविर्भूत होते हैं, उसी प्रकार । जिसमें इस प्रकार आनुपूर्व्वी नहीं है, वह नित्य नहीं हो सकता । जैसे पुनः-पुनः उत्पन्न होने वाले अपने यह शरीर हैं ॥२१ ॥

स्यान्नित्याकृति-वाचित्वात् कर्त्रभावाच्च नित्यता।
काठकादि-समाख्या तु तदुच्चारणहेतुका॥२२॥

वेद की नित्यता , नित्य-आकृतियों का वाचक होने के कारण है एवं वेद के कर्त्ता के अभाव के कारण है । जो काठकादि समाख्या वेद में दिखतीं हैं, वे तो केवल उनके उच्चारण करने के कारण हैं ।।२२।।

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

अनुमानान्तरमाह—स्यादिति। वेदो नित्य इन्द्राद्यर्थाकृतिवाचित्वात्। गोत्वादि-वाचिगवादिशब्दवत्। यन्नैवं तन्नैवं, यथा यज्ञदत्तादिशब्दः। यथा गोत्वादिजातयो नित्यास्तथेन्द्राद्यर्थाकृतश्च। विश्वकर्म-निर्मितशास्त्रे एता आकृतयः प्रसिद्धा। चित्रकर्मप्रसिद्धये इन्द्रं वज्रहस्तं वरुणं पाशहस्तं यमं दण्डहस्तं लिखन्ति। इन्द्रादि-व्यक्त्युत्पत्तेः पूर्वस्थितायाः स्मृत्वा विरिञ्चिस्तत्तदव्यक्तीः सृष्टवान्, अतो नित्यास्ताः। अपरमनुमानमाह-वेदो नित्यः कर्त्तृशून्यत्वात् कालवत्; यन्नैवं तन्नैवं, यथाधुनिककाव्यादिः। शब्दानित्यत्वपक्षे नियतानुपूर्व्यभावाद् यज्ञदत्तादिशब्दानामाधुनिक-

काव्यादीनाञ्चानित्यत्वं बोध्यम्। ननु नित्यश्चेद् वेदः कर्त्तृशून्यत्वात्तर्हि काठकादिसंज्ञा तस्य कथम्? कठेन प्रोक्तं काठकमित्यादि तद्व्युत्पत्तेरिति चेत्तत्राह—काठकादीति। कठेन प्रोक्तमुच्चारितं, न तु रचितं, नित्यत्व-श्रवणव्याकोपादिति कठादीनां यदुच्चारणं तद्धेतुकेत्यर्थः। एतदुक्तं भवति—महाप्रलयावसाने सर्वेश्वरेणाकृतिविदा सृष्टोऽध्यापितवेदश्च ब्रह्मा वैदिकैः कठादिशब्दैस्तु तत्तदाकृतीर्विचिन्त्य तत्तद्व्यक्तीस्तच्छक्तियुक्ता निर्माय तदुपाधीन् जीवान् तत्तद्ग्रन्थ-प्रवर्त्तने विनियुङ्क्ते। तेऽपि तत्तद्दत्तज्ञानशक्तयः पूर्वपूर्वकठादिप्रवर्त्तितांस्तान् स्वरतो वर्णतश्चास्खलितानधीत्य प्रवर्त्तयन्तीति नित्यत्वं वेदस्य सिद्धम्। एवमाह श्रुतिः—'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो हि वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' इति। स्मृतिश्च—यथर्त्तावृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्य्यये। दृश्यन्ते तानि तान्येव तथाभावा युगादिषु। युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः। लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवेत्याद्या। एवं पुराणेषु मार्कण्डेयादि-संज्ञाश्च बोध्याः॥२२॥

अनुवाद

इस श्लोक में एक अन्य प्रकार के अनुमान की बात करते हैं। इन्द्रादि की आकृतियों के वाचक होने के कारण वेद नित्य हैं, जिस प्रकार "गो" शब्द गोत्व-जाति-वाचक हैं। जो नित्य आकृतिवाचक नहीं है, वह नित्य नहीं है। जैसे यज्ञदत्त आदि शब्द। गोत्वादि जाति जिस प्रकार नित्य हैं, उसी प्रकार इन्द्रादि के अर्थ व आकृति नित्य ही हैं। विश्वकर्म्मा-रचित शास्त्रों में यह सारी आकृतियाँ प्रसिद्ध हैं। चित्रकर्म्म की प्रसिद्धि के लिए इन्द्र को वज्रहस्त, वरुण को पाश-हस्त एवं यम को दण्डहस्त दिखाया गया है। इन्द्रादि व्यक्तियों की उत्पत्ति के पूर्व ही उनके रूपों का स्मरण कर विरिञ्चि ने पृथक्-पृथक् व्यक्तियों की रचना की। अतः वेद-स्थित इन्द्रादि शब्द भी नित्य हैं।

अन्य अनुमान बताते हैं। वेद नित्य हैं क्योंकि काल के समान इनका भी कोई कर्त्ता नहीं है। जिसका कोई कर्त्ता है, वह नित्य नहीं हो सकता, जैसे आधुनिक काव्य। शब्द के अनित्यत्व के पक्ष में यज्ञदत्त जैसे शब्दसमूह अथवा आधुनिक काव्य की नियमित आनुपूर्वी के अभाव से उनके अनित्यत्व का बोध होना चाहिए।

पर वेद किसी रचयिता के न होने के कारण यदि नित्य है तो उसके काठक-आदि संज्ञा कैसे विद्यमान हैं? काठक संज्ञा का इस अर्थ में प्रयोग होता है कि कठ द्वारा उक्त है। यदि ऐसी आशंका हो तो उसके उत्तर में इस श्लोक में काठकादि शब्द बोले गए हैं। कठ द्वारा प्रोक्त का अर्थ है मात्र उच्चारित, रचित नहीं, क्योंकि उसमें श्रुति के नित्यत्व की हानि होती है। महाप्रलय के अवसान में सर्व्वेश्वर आकृतिविज्ञ भगवान् द्वारा ब्रह्मा सृष्ट हुए एवं उनको उन्होंने वेदाध्ययन

कराया। ब्रह्मा ने वैदिक कठादि शब्द द्वारा उन-उन आकृतियों का चिन्तन कर उन-उन व्यक्तियों को उन-उन शक्तियों से युक्त करके निर्म्माण किया । उसके पश्चात् उन्होंने तदुपाधि जीव-गणों को उन-उन ग्रन्थों के प्रवर्त्तन के लिए नियुक्त किया । वे भी श्री ब्रह्मा द्वारा प्रदत्त ज्ञानशक्ति प्राप्त कर पूर्व्व-पूर्व्व कठादि द्वारा प्रवर्त्तित वह वेदसमूह स्वर एवं वर्ण क्रम को अस्खलित कर अध्ययन कर उसका प्रवर्त्तन करते आए हैं । इस प्रकार वेद का नित्यत्व सिद्ध हुआ । श्रुति (श्वेताश्वतर उपनिषद् ६.१८) कहते हैं – 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्व्वं यो हि वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' (अर्थात् जो पूर्व्व में ब्रह्मा की सृष्टि किए थे एवं उनको वेद का अध्ययन कराये थे)। महाभारत में उक्त है, ''जिस प्रकार ऋतुओं में भिन्न-भिन्न रूप उस-उस प्रकार से दृष्टिगोचर होते रहते हैं, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न युगों में भी होता है । युग के अन्त में जो वेद इतिहासों के साथ अन्तर्हित हो गए, महर्षिगण उन्हें तपस्या के द्वारा श्री ब्रह्मा से प्राप्त करते हैं ।'' पुराणों में मार्कण्डेय-आदि संज्ञा भी इसी प्रकार समझना है ।।२२।।

जीववाक्येषु लभ्यन्ते जीवधर्म्मा भ्रमादयः।
वेदे तु नैव ते सन्ति सर्व्वज्ञवचनोच्चये॥२३॥

साधारण जीव द्वारा रचित वाक्यों में जीव के धर्म, जो भ्रमादि दोष हैं, संक्रमित हो जाते हैं । वेद में यह दोष नहीं है क्योंकि यह सर्व्वज्ञ ईश्वर के वचनों का समुच्चय है ।।२३।।

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

वेदस्य निर्दोषत्वं वक्तुमाह—जीवेति। भ्रमः प्रमादो विप्रलिप्सा करणापाटवञ्चेति चत्वारो जीवेषु दोषाः। तत्रातस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रमः। अनवधानता प्रमादः। स्वप्रतीतविपरीत-प्रत्यायनं विप्रलिप्सा। इन्द्रियमान्द्यं करणापाटवम्। जीवाः खलु शुक्तिकादिषु रजतादीनि प्रतियन्ति। स्वान्तिके जायमानं गानमन्यत्र निहितमनसो न शृण्वन्ति। ज्ञानखलाः स्वावगतानप्यर्थान् शिष्येषु न प्रकाशयन्ति। निहितमनसोऽपि करणमान्द्याद् यथावद् वस्तूनि गृह्णन्तीति प्रसिद्धम्। तत्र ते दोषास्तद्वाक्येषु सङ्क्रमन्ते। अतः कपिलादि-सिद्धान्तानां परस्परं व्याहतिर्दृष्टा। न त्वेते दोषा वेदे सन्ति। तस्य भगवद्रूपत्वेन सर्वज्ञत्वात्॥२३॥

अनुवाद

वेद के निर्दोषत्व को प्रतिपादित करने के लिए यह श्लोक बोला गया है । जीवों में चार प्रकार के दोष हैं- भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा एवं करणापाटव । एक वस्तु को अपर वस्तु के रूप में बोध करना भ्रम है । मन की अनवधानता (मन का अन्यत्र रहना) को प्रमाद कहते हैं । अपने प्रतीत वस्तुओं को भी विपरीत समझाने के प्रयास को विप्रलिप्सा कहते हैं । इन्द्रिय की अपटुता को

करणापाटव कहते हैं । जीव गण सीप में प्रायः रजत देखते हैं । जिनका मन अन्यत्र निहित है, निकट में गाये जा रहे गान को भी नहीं सुन पाते हैं। ज्ञान-खल गण अपने शिष्यों को भी अपने को जो अर्थ अवगत है, वह नहीं प्रकाश करते हैं । यह प्रसिद्ध है कि जिनका मन लगा हुआ है, वे भी इन्द्रियों की अपटुता के कारण वस्तुओं को यथावत् धारण नहीं कर पाते हैं । अतः यह दोष उन साधारण जीवों द्वारा रचित वाक्यों में संक्रमित होते हैं। अतः कपिलादि सिद्धान्तों का परस्पर व्याकोप दृष्ट होता है । परन्तु यह दोष वेद में नहीं हैं क्योंकि भगवत्-रूप होने के कारण वे सर्वज्ञ हैं ।।२३।।

साधनं यत्फलञ्चाह यथायं यद्विशारदः।
तथैव सर्व्वैर्निपुणैर्यथोक्तं तत् प्रलभ्यते॥२४॥

वेद विशारद हैं । यहाँ (वेद में) जो साधन एवं जो फल जिस प्रकार से भी उक्त हैं, उसी प्रकार से वही फल सभी निपुण व्यक्तियों द्वारा लब्ध होते हैं ।।२४।।

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

निर्दोषत्वे हेतुमाह-साधनमिति। अयं विशारदः सर्वज्ञो वेदः। यत् साधनं कारीर्य्यादि यथाह—तस्य फलञ्च वृष्ट्यादि यदाह तत्तथैव सर्वैर्निपुणैर्यथोक्तं प्रलभ्यतेऽनुभूयते। कारीर्य्या वृष्टिः पुत्रेष्ट्या पुत्रः, ज्योतिष्टोमेन स्वर्गः, ज्ञानेन मोक्षश्चोच्यते वेदेन, तत्सर्वं यथावद् दृष्टमतो भ्रमादिदोषशून्यो वेदः॥२४॥

अनुवाद

वेद के निर्दोषत्व का हेतु बताते हैं । वेद सर्वज्ञ एवं विशारद हैं । कारीरी (वृष्टि के लिए यज्ञ) आदि जो साधन जिस प्रकार वेद में उक्त हैं, उसका वृष्टि आदि फल जैसा उक्त है, वैसा ही सभी निपुण व्यक्तियों द्वारा प्राप्त होता है । कारीरी से वृष्टि, पुत्रेष्टि से पुत्र, ज्योतिष्टोम से स्वर्ग, ज्ञान से मोक्ष, जिस प्रकार वेद में उक्त है, वह सब यथावत् दिखता है। अतः वेद भ्रमादि दोष से शून्य हैं ।।२४।।

अतो ब्रह्मादिभिर्देवैर्वशिष्ठाद्यैर्महर्षिभिः।
मन्वाद्यैश्चापि वेदोऽयं सर्व्वार्थेषूपजीव्यते॥२५॥

अतः ब्रह्मादि देवगण द्वारा, वशिष्ठादि महर्षियों द्वारा एवं मनु-आदि द्वारा भी सभी फलों के निमित्त वेद का ही अवलम्बन किया जाता है ॥२५॥

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

निपुणाः सर्वे ते के इत्यपेक्षायामाह—अत्र इति। यस्मान्नित्यो निर्दोषो वेदः। अतो ब्रह्मादिभिर्महत्तमैः सर्व्वैः सर्वेषु धर्मार्थकाममोक्षेषु फलेषु निमित्तेष्वेषु वेद उपजीव्यते आश्रीयते, तदुक्तान्यनुष्ठाय तत्फलाण्यवाप्यन्त इत्यर्थः॥२५॥

अनुवाद

पूर्व श्लोक में उक्त निपुण व्यक्ति कौन हैं? इस प्रश्न की अपेक्षा कर यह श्लोक रचते हैं। वेद नित्य एवं निर्दोष हैं।अतः ब्रह्मादि सभी महात्मागण सभी धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष सम्बन्धी फल के निमित्त वेद का ही आश्रय ग्रहण करते हैं एवं तदुक्त अनुष्ठानों के द्वारा उन फलों को प्राप्त करते हैं ॥२५॥

ब्रह्माद्यैरर्च्चितोऽप्येष यदि कैश्चिन्नराधमैः।
घूकैरिव रविर्नाभिवीक्ष्यते तस्य का क्षतिः॥२६॥

ब्रह्मादि द्वारा अर्चित होने पर भी इस वेद की यदि कुछ नराधमों द्वारा उलूक के भानु-दर्शन के समान, अवमानना की जाए, तो उससे वेद की क्या क्षति होगी ?।।२६।।

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

ननु यदीदृशो वेदस्तर्ह्यर्हदादयः कथं तमवमन्यन्ते? तत्राह — ब्रह्माद्यैरिति। तैर्महत्तमै- रिदानीन्तनैश्च महद्भिः सर्वैरर्च्चितः समाश्रितोप्येष वेदो यदि सौगतादिभिः कैश्चिन्मनुष्यापसदैरुलूकैर्भानुरिव नाभिवीक्ष्यते नाङ्गीक्रियत इत्यर्थः। तर्हि अस्य काऽपूज्यता-लक्षणा क्षतिः स्यान्न कापीति। यथा देवमानवादिभिः सर्वैः सत्क्रियमाणः सूर्य्यस्तरुकोटरेषु निह्नुवानैर्घूकैर्न वीक्ष्यते, नैतावता तस्य प्रभावहानिस्तद्वत्। तथा च पामराणां का कथेति॥२६॥

अनुवाद

यदि वेद इस प्रकार के हैं तो अर्हत्-आदि कैसे उनकी अवमानना करते हैं? इसका उत्तर देते हैं। पूर्वोक्त महात्मागण एवं इदानींतन सभी महाजनगण वेद के समाश्रित होने पर भी यदि सौगत-आदि कुछ अधम मनुष्यगणों के द्वारा, उलूक के भानु-दर्शन के समान इसको अंगीकृत नहीं किया जाता है, तो क्या वेद की अपूज्यता-स्वरूप कोई क्षति होती है? कोई क्षति नहीं होती है। यह उस प्रकार से है जैसे देव-मानव-आदि द्वारा पूजित सूर्य को यदि तरु के कोटर में

छुपे हुए कुछ उलूक नहीं देखते हैं तो सूर्य के प्रभाव में कोई हानि नहीं होती है। इन पामरों की उक्ति से क्या? ।।२६।।

अर्हत्प्रभृतयः शास्त्रे स्वकीये यत्फलं जगुः।
तन्नैव लभ्यते क्वापि ततस्तत् कल्पितं भवेत्॥२७॥

इति सिद्धान्त-दर्पणे नास्तिकनिरासः प्रथमा प्रभा॥१॥

अर्हत्-प्रभृति अपने शास्त्रों में जिस फल का वर्णन किए हैं, वह किसी के द्वारा भी वास्तव में प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि वह कल्पित हैं ।।२७।।

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

अर्हदादिशास्त्रस्य कल्पितत्वात् तदुक्तसाधनात् साध्यं नास्तीत्याह—अर्हदिति। ते ह्येवं कल्पयन्ति। आत्मधर्माधर्मपुद्गल-कालाकाशाः षट्पदार्थास्तेषां स्यादस्तीत्यादि-रूपेण सप्तभङ्गिना न्यायेनास्थैर्य्यभावनम्। घात्यघातिशब्द-वाच्येन पापपुण्यरूपेण कर्माष्टकेन वेष्टितस्य जीवस्य सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्रैः साधनैस्तदष्टकात् पञ्जरात् कीरस्येव विनिर्गतस्य तस्यालोकाकाशवर्त्तिन्यामतिविस्तीर्णायां शिलायामारोहो मुक्तिरिति। न चैतत् केनापि कुत्रापि प्रतीतं मालतीमाधवादि-नाटकार्थवत् प्रकल्पनया निबद्धत्वात्। न चैतन्मतस्थानां किञ्चित् मोक्षचिह्नं—प्रत्यक्षनारकित्वेनावगतत्वात्। एवं बौद्धानाञ्च भावक्षणिकवादिनां न काप्यास्थेति-का कथा तेषामिति नास्तिका निराकृताः॥२७॥

इति प्रथमा प्रभा व्याख्याता॥१॥

अनुवाद

अर्हत्-आदि के शास्त्र कल्पित होने के कारण उनमें उक्त साधन से साध्य प्राप्त नहीं होता है - ऐसा बताते हैं इस श्लोक में। वे इस प्रकार कल्पना करते हैं। षड्विध पदार्थ हैं - आत्मा, धर्म, अधर्म, पुद्गल, काल व आकाश। वे स्यादस्ति-इत्यादि सप्तभंगी न्याय के द्वारा इन पदार्थों के अस्थैर्य को स्थापित करते हैं। जीव अष्ट प्रकार के पाप-पुण्य कर्मों में वेष्टित हैं जो घाति व अघाति शब्दों द्वारा वाच्य हैं। सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन एवं सम्यक् चारित्र्य की साधना के द्वारा कर्माष्टक के पंजर से शुक पक्षी के समान मुक्त होकर आलोक-आकाश-वर्त्तिनी शिला में आरोहण करते हैं। इसको मुक्ति कहते हैं। (जैनमत में आकाश के सर्वोच्च स्थान में स्थित है सिद्ध-शिला जहाँ मुक्ति प्राप्त कर सिद्धगण निवास करते हैं।)

इस दर्शन में किसी के द्वारा किसी भी स्थान में विश्वास नहीं किया गया क्योंकि मालती-माधव-आदि नाटक की कथाओं के समान यह पूर्ण कल्पना में ही निबद्ध है । इन मतवादियों में मोक्ष का कोई चिह्न भी नहीं दिखता है क्योंकि उनको देखने से नारकी जैसा ही बोध होता है। बौद्धों व भाव-क्षणिक-वादियों की कोई आस्था नहीं होती है । उनका क्या कहना? इस प्रकार नास्तिकों का निरसन किया गया ।।२७।।

।। इति प्रथमा प्रभा की टीका का हिन्दी अनुवाद ॥१॥

द्वितीया प्रभा

इतिहास-पुराणाख्यो भागो यो वाचकस्य सः।
कर्त्तृवर्ज्जित एवास्य व्यासः प्राकट्यकृन्मतः॥१॥

वाचक (वेद) का जो भाग इतिहास व पुराण नामों से ख्यात है, वह भी कर्त्ता-शून्य है। श्री व्यास-देव ने उनको केवल प्रकट किया है ॥१॥

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

अथेतिहास-पुराणेषु विष्णुभक्तिवाक्यानि वीक्ष्यातिखिन्नांस्तान्यवेदरूपाणि विवक्षून् मीमांसकैकदेशिनः कांश्चिन्नास्तिकाभासान्निराकर्त्तुं प्रवर्त्तते—तथाहि 'नन्वितिहास- पुराणयोर्न वेदत्वम्।' 'अष्टादश-पुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः। चक्रे भारतमाख्यानं वेदार्थैरुपबृंहितम्' इति स्कान्दे। मात्स्ये च तयोर्व्यासकृतत्वाभिधानादिति चेत्तत्राह- इतिहासेति। 'कृत्वा सत्यवतीसुतश्चक्रे' इत्यत्र तानि प्रकटय्य तत् प्रकटयाम्बभूवेत्येवार्थः। अन्यथा श्रुतिमुख्यार्थव्याकोपापत्तिः। किञ्च यद्ब्राह्मणानीतिहासपुराणानीति ब्रह्मयज्ञे वेदाध्ययने विनियोगाच्च तयोर्वेदत्वं, पूरणात् पुराणमिति वेद-पूरकत्वान्निरुक्तिः। न हि न्यूनस्य स्वर्णकङ्कणस्य त्रपुणा पूर्त्तिर्युज्यते। एवमभिप्रेत्योक्तं स्कान्दे—'यो वेद चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः। पुराणं नैव जानाति न तु स स्याद् विचक्षण' इति॥१॥

अनुवाद

इतिहास व पुराणों में विष्णु-भक्ति-सम्बन्धी वाक्यों को देख कर अति खिन्न मन वाले एवं उन वाक्यों को अवैदिक बताने में प्रयासी मीमांसकों के एकदेशी मत वाले कुछ नास्तिकगणों के मत का निरसन करते हैं इस श्लोक में। उनका मत है कि इतिहास व पुराणों का वेदत्व नहीं है। स्कन्द-पुराण (प्रभास-खण्ड १.२.६४) में उक्त है,

अष्टादशपुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः।
चक्रे भारतमाख्यानं वेदार्थैरुपबृंहितम्॥

अर्थात् "अष्टादश पुराणों को बनाने के पश्चात् सत्यवती के पुत्र ने वेद के अर्थ से समृद्ध महाभारत के आख्यान को बनाया।" मत्स्य-पुराण (५३.७०) में भी इस प्रकार के वाक्यों को देखकर इनको यदि श्रीव्यासदेव की रचना (अर्थात् अनित्य) बताया जाए, तो उनके लिए यह श्लोक बताया गया है। इन वाक्यों में "सत्यवती के पुत्र ने इनको बनाया" का अर्थ है कि उन्होंने

इनको प्रकट किया। प्रकट करने का ही अर्थ है यहाँ। अन्यथा श्रुति के मुख्य अर्थ का विरोध रूपी आपत्ति होगी। अपर बात यह है कि ब्राह्मण (वेद का अंश-विशेष) एवं इतिहास-पुराण का ब्रह्म-यज्ञ में व वेदाध्ययन में विनियोग होता है। इस कारण से इतिहास-पुराण का वेदत्व सिद्ध हुआ। निरुक्ति के अनुसार, वेद के पूरक के रूप में पूरण करने वाले ही पुराण हैं। सोने का भग्न कङ्गन का पूरण सीसे से नहीं किया जाता है। (अर्थात् वेद का पूरण जिससे किया जाएगा, वह भी वेद ही होगा।) यह अभिप्राय स्कन्द-पुराण (प्रभास खण्ड १.२.६३) में भी कहा गया है।

यो वेद चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः।
पुराणं नैव जानाति न तु स स्याद्विचक्षणः।।

अर्थात् "जो द्विज अङ्ग व उपनिषद् सहित चार वेदों को जानता है परन्तु पुराण नहीं जानता है, वह विचक्षण नहीं होता है।" ॥१॥

मार्कण्डेयादि-संज्ञा तु काठकादिवदिष्यतां॥२॥

पुराणों की मार्कण्डेयादि संज्ञा वेद के काठक-आदि संज्ञावत् समझनी चाहिए।।२।।

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

ननु वेदश्चेत्तद्भागस्तर्ह्यनादौ तस्मिन्मार्कण्डेयादि-संज्ञा कथं? तत्राह- मार्कण्डेयादीति। मार्कण्डेयेनोच्चारितं मार्कण्डेयमित्येवमादिविधया तद्व्युत्पत्तिः काठकादिवन्मन्तव्या॥२॥

अनुवाद

पुनः आशंका हो सकती है कि यदि इतिहास एवं पुराण वेद के ही अंश हैं, तो उन अनादि पुराणों में मार्कण्डेय-आदि संज्ञा कैसे सम्भव हैं? इसके उत्तर में यह श्लोक कहते हैं। मार्कण्डेय द्वारा उच्चारित होने से उसके मार्कण्डेय संज्ञा की व्युत्पत्ति हुई। यह वेद के काठक-आदि संज्ञा के समान हैं - यह मानना चाहिए।।२।।

वेदेऽपि येतिहासादौ शूद्रस्याप्यधिकारिता।
निदेशाद् रथकारादेरिव ज्ञेया क्वचित्तु सा॥३॥

इतीतिहासादिपौरुषेयत्ववाद-निरासो द्वितीया प्रभा॥२॥

इतिहासादि में शूद्र का जो अधिकार है, वह रथकार आदि का निदेश से वेद में जो क्वचित् अधिकार है, उस प्रकार जानना होगा।।३।।

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

एवञ्चेत् तद्भागे शूद्राधिकारः कथम्? तत्राह—वेदेऽपीति। "वर्षासु रथकारोऽग्निना दधीतेति" विधिरूपवेदनिदेशादेवाधानमात्रेऽपेक्षितत्वादृभूणां त्वादेवानां व्रतपते व्रतेनादधामि (तै० ब्रा० १.३४) इत्याधानाङ्गभूतमन्त्रमात्रे च रथकारस्य सुधन्वापरनाम्नः सङ्करजातेरद्विजस्याधिकारोऽन्यथा विधिव्याकोपापत्तेः। न तूत्तरकर्मणि तदुपयुक्ते अध्ययने वा, तथा तन्निदेशादेव तद्भागे वेदेऽपि तस्याधिकारो, न तु तदन्यस्मिनृगादाविति। आदि-पदान् "निषादस्थपतिं याजयेदिति" (मैत्रायणीयसंहिता २/२/४) ग्राह्यम्। अत्र निषादाभिन्नस्य स्थपतेर्यागमात्रे तदङ्गमन्त्रमात्रे चाधिकारो न तु तदतिरिक्ते पाठे, तदुक्ते कर्मणि वेति॥३॥

इति द्वितीया प्रभा व्याख्याता॥२॥

अनुवाद

यदि ऐसा है (अर्थात् यदि पुराण भी वेद जैसे अपौरुषेय व नित्य हैं) तो शूद्रों को किस प्रकार पुराणों में अधिकार है? इस संशय के उत्तर में यह श्लोक रचा गया है। वेद का विधि रूप निदेश है-

वर्षासु रथकारोऽग्निना दधीत।

अर्थात् "रथकार वर्षा में अग्नि द्वारा धारण करें"। इस निदेश से आधार मात्र में अपेक्षा होने से, "ऋभूणां त्वा देवानां व्रतपते व्रतेनादधामि" इस मन्त्र में रथकार का, जो अद्विज संकर जाति है एवं जिसका अपर नाम सुधन्वा है, अधिकार है। अन्यथा शास्त्रीय विधि का व्याकोप होगा। उसके उपरान्त किसी कार्य में अथवा अध्ययन में उनका अधिकार नहीं है। शास्त्रीय निदेष के अनुसार वेद के उसी भाग में उनका अधिकार है, न कि अन्य ऋगादि भागों में। श्लोकस्थ आदि पद को-

निषादस्थपतिं याजयेत् (मैत्रायणीयसंहिता २.२.४) (अर्थात् "निषाद के मुख्य के द्वारा याग कराया जाए।") के अर्थ में लेना होगा। यहाँ निषाद से अभिन्न स्थपति का याग मार्ग में इस मन्त्र मात्र में ही अधिकार दिया गया है, इसके उपरांत और किसी मंत्र में नहीं ।।३।।

।। इति द्वितीया प्रभा की टीका का हिन्दी अनुवाद ।।२।।

तृतीया प्रभा

नन्वृगादिः पुराणान्तो वेदो नित्योऽस्तु किन्त्वदः।
सम्प्रति प्रचरद् भूमौ श्रीमद्भागवताभिधम्।
अष्टादशातिरिक्तत्वाद्वेदरूपं न सम्भवेत्॥१॥

अच्छा, ऋगादि से लेकर पुराण तक सभी वेद नित्य हों। किन्तु सम्प्रति जो श्रीमद्भागवत नाम से जगत् में प्रचलित है, वह अष्टादश पुराणों के अतिरिक्त है। अतः उसका वेदरूप होना सम्भव नहीं है ॥१॥

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

एवमवेदत्वशङ्कापङ्के दुर्धीभिरर्पिते प्रक्षालिते केचिद्वेदं स्वीकुर्वन्तोऽपि शैवादयो विष्णुपारतम्यैकनिरूपके श्रीभागवते विद्वेषिणः शङ्कन्ते। नन्विति-ऋगादेः पुराणान्तस्य वेदस्योक्तैर्हेतुभिर्नित्यत्वं यत्त्वयोक्तं तन्मया स्वीकृतं, किन्तु शुकपरीक्षित्-संवादितया भुवि सम्प्रति यत्प्रचरति, तदिदं भागवतं वेदरूपं न भवेत्। यदिदमष्टादशभ्योऽतिरिक्तं प्रतीयते ॥१॥

अनुवाद

इस प्रकार दुर्बुद्धिगण द्वारा अर्पित अवेदत्व का शङ्का-पङ्क के प्रक्षालित होने पर कुछ शैवादि विद्वेषीगण वेद को स्वीकार करने पर भी एक श्री विष्णु के पारतम्य का निरूपण करने वाले श्रीमद्भागवत पर शंका करते हैं। उनकी उक्ति इस प्रकार है - ऋगादि से पुराण पर्य्यन्त जितने वेद हैं, उनका नित्यत्व आप जिन हेतुओं द्वारा बताएँ हैं, वे मेरे द्वारा स्वीकार किए गए। परन्तु शुक-परीक्षित्-संवाद के रूप में जिस भागवत का आजकल प्रचार हो रहा है, वह वेद-रूप नहीं है। यह भागवत अष्टादश पुराणों के अतिरिक्त प्रतीत होता है ॥१॥

अष्टादशान्तरं व्यासो भारतं कृतवान् प्रभुः।
भारतोत्तरमेतत्तु चक्रे भागवतं मुनिः॥
इत्येवमुक्तेरेतस्य नाष्टादशसु सम्भवः॥२॥

प्रभु व्यासदेव जी ने अष्टादश पुराणों के पश्चात् महाभारत ग्रन्थ को तैयार किया। इस भागवतम् को उन्होंने महाभारत के पश्चात् तैयार किया। इस प्रकार की उक्ति से इसकी गणना अष्टादश पुराणों में सम्भव नहीं है ।।२।।

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

एतदुपपादयति—अष्टादशेति सार्द्धकेन। अष्टादशपुराणानि कृत्वेत्यादिना मात्स्य-स्कान्दयोर्वाक्येनाष्टादशपुराणप्राकट्यानन्तरं भारतप्राकट्यमुक्तम्। प्रथमस्कन्धे तु श्रीव्यास-नारदसम्वादे भारतं प्रकटय्याप्यपरितुष्टेन व्यासेन श्रीनारदोपदेशात् स्वपरितोषकरं श्रीभागवतं शुकपरीक्षित्संवादि प्रकटयाम्बभूवेत्युक्तम्। कथा तु तत्रैव द्रष्टव्या। तेन ज्ञायते श्रीमद्भागवतमेतदष्टादशसु नान्तर्भवति, किन्तु विष्णुधर्मादिवदतिरिक्तमेवातो न वेदरूपत्वम्। अष्टादशान्तर्भूतं भागवतं त्वितोऽन्यदेव स्यात्, तत्तु अस्तु वेदरूपमिति भावः॥२॥

अनुवाद

डेढ़ श्लोक में यह समझाते हैं। मत्स्य व स्कन्द पुराणों के वाक्य "अष्टादश पुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः। चक्रे भारतमाख्यानं वेदार्थैरुपबृंहितम्।।" (अर्थात् "अष्टादश पुराणों को बनाने के पश्चात् सत्यवती के पुत्र ने वेद के अर्थ से समृद्ध महाभारत के आख्यान को बनाया।") इत्यादि वाक्यों द्वारा यह कहा गया है कि अष्टादश पुराणों के प्राकट्य के पश्चात् महाभारत ग्रन्थ का प्राकट्य हुआ। प्रथम स्कन्ध में उक्त है कि महाभारत को प्रकट करने के पश्चात् अपरितुष्ट श्रीव्यासदेव के द्वारा श्री नारद के उपदेश से स्वपरितोषकर शुक-परीक्षित्-संवाद के रूप में श्रीमद्भागवतम् का प्राकट्य किया गया। यह कथा उसी भागवतम् में देखी जा सकती है। उससे यह ज्ञात होता है कि श्रीमद्भागवतम् अष्टादश पुराणों के अन्तर्गत नहीं है, किन्तु विष्णुधर्म्मोत्तर के समान यह अतिरिक्त है। अतः इसका वेदरूपत्व नहीं है। अष्टादश पुराणों के अन्तर्गत भागवतम् तो इससे भिन्न ही होगा, उसका वेदरूपत्व हो सकता है ।।२।।

मैवं लक्षण-संख्याभ्यामिदमेव हि तद्भवेत्॥३॥

इस प्रकार नहीं है। लक्षण एवं श्लोक-संख्या के द्वारा यह ज्ञात होता है कि यही वह है। (अर्थात् लोक में सम्प्रति प्रख्यात शुक-परीक्षित्-संवाद-रूप श्रीमद्भागवत ही वह ग्रन्थ है जो अष्टादश पुराणों के अन्तर्गत है।) ।।३।।

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

परिहरति—मैवमिति। अष्टादशान्तर्गतस्य श्रीभागवतस्य यल्लक्षणं या च संख्या मात्स्यादौ कथ्यते, ताभ्यामेतच्छुकभाषितमेव तदन्तर्गतं, नान्यदित्यर्थः। तत्र मात्स्य (५३. २०-२२)—'यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मविस्तरः। वृत्रासुरवधोपेतं तद्भागवतमिष्यते। सारस्वतस्य कल्पस्य मध्ये ये स्युर्नरामराः। तद्वृत्तान्तोद्भवं लोके तद्भागवतमुच्यते॥

अष्टादशसहस्राणि पुराणं तत्प्रकीर्तितम्। लिखित्वा तच्च यो दद्याद्धेमसिंहसमन्वितम्। प्रौष्ठपद्यां पौर्णमास्यां स याति परमं पदमिति।' स्कान्दे च–'ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रो द्वादशस्कन्धसम्मितः। हयग्रीव-ब्रह्मविद्या यत्र वृत्रवधस्तथा। गायत्र्या च समारम्भस्तद् वै भागवतं विदुः' इति। शुकभाषितत्वञ्चास्योक्तं पाद्मे–'अम्बरीष! शुकप्रोक्तं नित्यं भागवतं शृणु। पठस्व स्वमुखेनैव यदीच्छसि भवक्षयमिति' गौतमेन। वाराहे च–परीक्षितः शापकथन-प्रसङ्गे तत्वमुक्तं। तत्राजग्मुर्महाभागा मुनयः संशितव्रताः। शुकश्च व्यासतनयो महाभागवतो मुनिः। संहितां श्रावयामास राज्ञे भागवतीं मुनिः' इत्यादिकं श्रीवराहदेवेन। ब्रह्माण्डे च–शुकवागमृताब्धीन्दुरिति श्रीशेषदेवेन। लक्षणेन ह्यसाधारणधर्मवचनेन वस्तुः परिचीयते, न तु व्युत्पत्तिमात्रेण, यथा सास्नादिमत्वेन लक्षणेन गौः परिचीयते। अन्यथा भगवत्-प्रोक्तं भगवद्देवताकं वा यत्किञ्चिच्छास्त्रं भागवतं स्यात्। गच्छतीति व्युत्पत्त्या महिषोष्ट्रादिश्च गौर्भवेत्। तस्माल्लक्षणेनैव वस्तु परिचेयं। यत्तु मात्स्याद्युक्तलक्षणं वीक्ष्य केनचित् सुधिया कृतमेतद् व्यासकृतं त्वन्यदिति पामराणां शङ्कान्तरं, तत् खलूपरि परिहरिष्यामः॥३॥

अनुवाद

पूर्वोक्त संशय का परिहार करते हैं इस श्लोक में। अष्टादश पुराणों के अन्तर्गत जो भागवतम् है, उसके जो लक्षण व श्लोक-संख्या मत्स्य-पुराण आदि में कथित हैं, उससे यह ज्ञात होता है कि यह श्रीशुक द्वारा भाषित भागवतम् ही अष्टादश पुराणों के अन्तर्गत है, यह अन्य कोई ग्रन्थ नहीं है। मत्स्य-पुराण में कथित है (५३.२०-२२)

यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्म्म-विस्तरः।
वृत्रासुर-वधोपेतं तद्भागवतमिष्यते।।
सारस्वतस्य कल्पस्य मध्ये ये स्युर्नरामराः।
तद्वृत्तान्तोद्भवं लोके तद्भागवतमुच्यते।।
अष्टादशसहस्राणि पुराणं तत्प्रकीर्त्तितम्।
लिखित्वा तच्च यो दद्याद्धेमसिंहसमन्वितम्।
प्रौष्ठपद्यां पौर्णमास्यां स याति परमं पदम्।।

अर्थात्, "जहाँ गायत्री का उल्लेख कर धर्म्म का विस्तृत वर्णन है एवं जो वृत्रासुर-वध के आख्यान के साथ है, उसे भागवतम् कहा जाता है। सारस्वत कल्प के मध्य में जो नर व देव हैं, उनका वृत्तान्त जहाँ है, इस लोक में उसे भागवत कहा जाता है। यह प्रकीर्त्तित है कि यह पुराण अष्टादश-सहस्त्र श्लोक-युक्त है। जो व्यक्ति उसे लिख कर प्रौष्ठपदी पूर्णिमा में सुवर्ण-सिंहासन से

समन्वित कर दान करता है, वह परम पद को प्राप्त करता है।"

स्कन्द पुराण में उक्त है-

ग्रन्थोऽष्टादश-साहस्रो द्वादश-स्कन्ध-सम्मितः।
हयग्रीव-ब्रह्मविद्या यत्र वृत्रवधस्तथा।
गायत्र्या च समारम्भस्तद्वै भागवतं विदुः।।

अर्थात्, "यह ग्रन्थ द्वादश स्कन्धों से व अष्टादश-सहस्त्र श्लोकों से समन्वित है। जहाँ हयग्रीव-ब्रह्मविद्या एवं वृत्रासुर वध की कथा है। जो गायत्री से आरम्भ होता है, उसी को भागवतम् जानो।"

पद्म-पुराण में गौतम की उक्ति है कि यह श्री शुकदेव द्वारा कथित है। वह इस प्रकार है-

अम्बरीष शुकप्रोक्तं नित्यं भागवतं शृणु।
पठस्व स्वमुखेनैव यदीच्छसि भवक्षयम्।।

अर्थात्, "हे अम्बरीष! नित्य भागवतम् का श्रवण करो जो श्रीशुक द्वारा प्रोक्त है। यदि भवक्षय की इच्छा करते हो तो अपने ही मुख से उसका पाठ करो।"

वराह पुराण में यह तत्त्व परीक्षित् के शाप-कथन प्रसंग में श्री वराहदेव की उक्ति है-

तत्राजग्मुर्महाभागा मुनयः संशितव्रताः।
शुकश्च व्यासतनयो महाभागवतो मुनिः।
संहितां श्रावयामास राज्ञे भागवतीं मुनिः।।

अर्थात्, "वहाँ व्रतों से संशित महामुनिगण आगमन किए। श्रीव्यासदेव के पुत्र, महाभागवत मुनि श्री शुकदेव ने राजा को भागवती संहिता (श्रीमद्भागवतम्) का श्रवण कराया।"

ब्रह्माण्ड पुराण में श्री शेषदेव की उक्ति है-

शुकवागमृताब्धीन्दुः

अर्थात्, "श्रीगोविन्दजी वह चन्द्रमा हैं जो श्रीशुकदेव की वाणि रूपी अमृत के समुद्र से उदित हुए हैं।"

असाधारण-धर्म-सूचक लक्षणात्मक वचन के द्वारा ही वस्तु का परिचय होता है, व्युत्पत्ति-मात्र से नहीं। जिस प्रकार गलकम्बल रूपी असाधारण लक्षण से ही गो का परिचय होता है। परन्तु "गच्छति इति गो" (अर्थात् जो चलता है वही गो है) इस व्युत्पत्ति के अनुसार महिष, उष्ट्र इत्यादि भी "गो" पद-वाच्य हो सकते हैं। उसी प्रकार भगवत-प्रोक्त वा भगवत-देवात्मक कोई भी ग्रन्थ भागवत हो सकता है (केवल व्युत्पत्ति के आधार पर यदि देखा जाए तो)। इसलिए

असाधारण लक्षण से ही वस्तु का परिचय होना चाहिए। मत्स्य पुराण में उक्त लक्षण आदि को देखकर पामरों का जो संशय है कि श्रीमद्भागवतम् किसी एक सुधी द्वारा लिखित है एवं श्री व्यास-कृत श्रीमद्भागवतम् कोई अन्य ग्रन्थ है, उसका परिहार अग्रे करेंगे ।।३।।

ब्रह्मश्रीपतिसंवादो योंऽशोऽष्टादश-मध्यगः।
व्यासनारदसम्वादस्तत्र यस्मात्प्रवेशितः॥
एकस्यैव तदेतस्य श्रीमद्भागवतस्य तत्।
अष्टादशान्तर्वर्त्तित्वं पौर्वापर्यञ्च सम्भवेत्॥४॥

श्रीमद्भागवत का जो अंश ब्रह्म-नारायण-संवाद के रूप में अष्टादश पुराणों के मध्य में स्थित है, उसमें व्यास-नारद-संवाद रूप अंश प्रवेश किया। यह एक ही श्रीमद्भागवत के अंश हैं। यह अष्टादश पुराणों के अन्तर्वर्त्ती है एवं इसके यह दोनों पूर्व व अपर भाग हैं ॥४॥

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

नन्वष्टादशपुराणोत्तरं भारतं प्रकटितम्। भारतोत्तरन्तु श्रीनारदोपदेशाद् भागवतमित्येतद् ब्रुवता त्वया भागवतद्वयमभिमतम्। तेन च पुराणान्यूनविंशतिरुक्तानि। किञ्च– भारतोत्तरस्य तस्य लक्षणसंख्ये मात्स्याद्युक्ते प्रतीते, भारतात् पूर्वस्य के ते इति स्ववक्तृत्वं प्रज्ञान्धप्रेष्ठं प्रकाशितमिति चेत्तत्राह—ब्रह्मश्रीति द्वाभ्याम्। 'इदं भगवता पूर्वं ब्रह्मणे नाभिपङ्कजे। स्थिताय भवभीताय कारुण्यात् सम्प्रकाशितम् (१२.१३.१०)।' इति द्वादशस्कन्धवाक्यादवगतो ब्रह्मनारायणसम्वादरूपो यो भागवतस्य भागो भारतात् पूर्वमष्टादशस्वाविर्भावितस्तत्रानाविर्भूतो व्यासनारदसम्वादरूपस्तस्यैवापरो भागस्तत्र यस्मात् प्रवेशितः। तत्ततो हेतोरेकस्यैव तस्य तदुभयं सम्भवेत्। भागद्वयविशिष्टस्य सतस्तस्य लक्षणसंख्ये मात्स्यादावुक्ते इति न कोऽपि सन्देहगन्धोऽस्ति। एवमेवोक्तं प्रथमे (१.७.८) सूतेन—'स संहितां भागवतीं कृत्वानुक्रम्य चात्मजं। शुकमध्यापयामास निवृत्तिनिरतं मुनिम्।।' इति प्रथमतः स्वयं ब्रह्मश्रीशसम्वादरुपं सङ्क्षेपेण कृत्वा पश्चान्नारदोपदेशादनुक्रम्य विस्तार्य्य चेत्यर्थः। तथा च त्वदुक्तं सर्व्वं वियत्पुष्पायमाणमभूदतो मूर्द्धानं गृहीत्वा रुदिहीति। भारतोपक्रमेऽप्येवमस्ति—प्रथमं चतुर्विंशतिसहस्रं भारतं कृतमाख्यानैर्विना। ततस्तैः सहितं पञ्चाशत् सहस्ररूपं तदनन्तरं ततोऽधिकं ततोऽप्यधिकमिति॥४।।

अनुवाद

अब, यह संशय हो सकता है कि अष्टादश पुराणों के पश्चात् महाभारत प्रकट हुआ था। महाभारत के पश्चात् श्रीनारद के उपदेश से भागवत प्रकट हुआ था। इस प्रकार आप द्वारा बोलने पर दो भागवत ग्रन्थों का अभिमत होता है। इससे यह कहा जा सकता है कि पुराणों की संख्या उन्नीस है। इनमें महाभारत के उत्तर जो ग्रन्थ है, उसके लक्षण व श्लोक संख्या मत्स्य-पुराण आदि में उक्त प्रतीत होते हैं। तो महाभारत के पूर्व्व जो भागवत था, उसके लक्षण व श्लोक-संख्या क्या हैं? आपके वचन तो उनको प्रिय हैं जो प्रज्ञा के अन्धकार में हैं। इस प्रकार कि उक्तियों के उत्तर में ब्रह्म-श्रीपति आदि दो श्लोकों की रचना की गई है।

इदं भागवता पूर्व्वम्ब्रह्मणे नाभिपङ्कजे।
स्थिताय भवभीताय कारुण्यात्सम्प्रकाशितम्।।

अर्थात्, "यह भागवत पूर्व्व में भगवान् द्वारा अपने नाभि-पद्म में स्थित एवं भव-भय-युक्त ब्रह्मा जी को करुणा से प्रकाशित किया गया।" द्वादश-स्कन्ध के (१२.१३.१०) इस वाक्य से यह ज्ञात होता है कि ब्रह्मा व श्री नारायण के संवाद के रूप में जो भागवत का भाग है, वह महाभारत से पूर्व्व, अष्टादश पुराणों के अन्तगर्त के रूप में प्रकट हुआ था। जो आविर्भूत नहीं हुआ था वह व्यास-नारद-संवाद के रूप में उसी का अपर भाग था। यह भाग उसमें प्रवेश किया था। इस हेतु से यह संभव हुआ कि एक ही श्रीमद्भागवत के यह दो भाग हैं। भागद्वय विशिष्ट श्रीमद्भागवत के लक्षण एवं श्लोक-संख्या मत्स्य पुराण इत्यादि में उक्त हैं, इस पर कोई सन्देह का गन्ध भी नहीं हो सकता। प्रथम स्कन्ध में ऐसा ही उक्त है श्री सूत द्वारा।

स संहितां भागवतीं कृत्वानुक्रम्य चात्मजम्।
शुकमध्यापयमास निवृत्तिनिरतं मुनिः।।

अर्थात्, "उसी श्रीमद्भागवतम् को प्रकट करके, उसको विस्तृत करके, मुनि (श्री व्यासदेव जी ने) अपने आत्मज श्री शुकदेव को, जो निवृत्ति-मार्ग में निरत थे, अध्ययन कराया।" प्रथमतः उन्होंने स्वयं उस श्रीमद्भागवत को ब्रह्म-नारायण संवाद के रूप में संक्षेप में प्रकट कर, उसके पश्चात् श्रीनारद के उपदेश के अनुसार विस्तृत किया। इस प्रकार आप के द्वारा उक्त समस्त संशय आकाश-पुष्पवत मिथ्या प्रमाणित हुए, अतः सर पकड़ कर रोएँ।

महाभारत के उपक्रम में भी ऐसा है। प्रथमतः उन्होंने चतुर्विंशति-सहस्त्र श्लोक समन्वित भारत को आख्यानों के बिना ही प्रकट किया था । पश्चात् उसके सहित पंचशत सहस्र रूप का ग्रन्थ प्रकट किया। तत्पश्चात् और अधिक पुनः और अधिक - इस प्रकार ॥४॥

विवक्षा नास्ति कालस्य स चेदत्र विवक्ष्यते।
मार्कण्डेयाग्नेययोः स्याद्बहिर्भावस्तदानयोः ॥५॥

इति श्रीमद्भागवतस्याष्टादशातिरिक्तत्ववाद-निरासस्तृतीया प्रभा ॥३॥

यहाँ काल की अपेक्षा नहीं है। यदि काल की अपेक्षा मान ली जाए तो मार्कण्डेय पुराण एवं अग्नि पुराण का भी इन अष्टादश पुराणों से बहिर्गमन हो सकता है ॥५॥

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

अन्यासङ्गतिमाह—विवक्षेति। पौर्वापर्य्येण भासमानस्य कालस्य विवक्षा नास्ति। स तादृशः कालश्चेदत्रेतिहासपुराण-निरूपणं वक्तुमिष्यते, तर्ह्यनयोः सम्प्रति भुवि प्रचरतोर्मार्कण्डेयाग्नेययोरष्टादशभ्यो बहिर्भावः स्यात्। अयमर्थः—भारतात् पूर्वेष्वष्टादशसु यद्भागवतं ततोऽन्यदिदं शुकभाषितं यद्भारतादुत्तरमिति चेत्तव शङ्का, तर्हि मार्कण्डेयादावपि एवं साभ्युदेति। तथाहि मार्कण्डेयारम्भे—(१म० अ०) 'भगवन्! भारताख्यानं व्यासेनोक्तं महात्मना। पूर्णमस्त्यमलैः शब्दैर्नानाशास्त्रसमुच्चयैः।' इत्यादि। 'तदिदं भारताख्यानं बह्वर्थं बहुविस्तरम्। तत्त्वतो ज्ञातुकामोऽहं भगवंस्त्वामुपागतः॥' इति च प्रोच्य जैमिनिना कृतैश्चतुर्भिः प्रश्नैः पुराणकथावतारिता। सा च भारतोत्तरभावित्वं विना न सङ्गतेति मार्कण्डेयस्याष्टादशभ्यो बहिर्भावः। एवमाग्नेयारम्भे 'सुत! त्वं पूजितोऽस्माभिः सारात्सारं वदस्व नः' (१/३) इति शौनकेन पृष्टः सूतः। 'सारात्सारतरं हि भगवान् विष्णुरव्यय ईश्वरः' इत्यादिकमुक्त्वाऽवतार्य्य च पुराणं तत्तद्विद्यासारं ब्रुवन् प्रसङ्गाद् ग्रन्थान्तर्गीतासारं प्रवक्ष्यामीति प्रतिज्ञाय 'दैवी ह्येषा गुणमयी' इत्यादीनि कानिचित् पदान्यवोचयत्। अर्थमात्रोक्तौ यथावत्तानि न ब्रूयादित्याग्नेयस्यापि तेभ्यः सः। तस्मात् कालविवक्षात्र नास्तीति भागवतादीनां त्रयाणामष्टादशान्तर्भावः सिद्धः। इत्थञ्चेतिहासपुराणानि सर्वाण्यनादि-सिद्धान्येव, व्यासात्तेषां प्राकट्यमात्रमित्युक्तं न विस्मर्त्तव्यम् ॥५॥

इति तृतीया प्रभा व्याख्याता ॥३॥

अनुवाद

एक अन्य प्रकार की असंगति को दिखाते हैं इस श्लोक में। पुराण के सम्बन्ध में पूर्व्व काल में आविर्भाव एवं उत्तरकाल में आविर्भाव जो कहा जाता है, वहाँ वास्तव में कोई काल-विवक्षा नहीं है। यदि इतिहास-पुराण सम्बन्धी इस प्रकार की काल-विवक्षा मान ली जाए, तो

सम्प्रति इस जगत् में प्रचारित मार्कण्डेय व अग्नि-पुराणों का भी अष्टादश पुराणों से बहिगर्मन हो सकता है। इसका अर्थ इस प्रकार है यदि आप की शङ्का यह है कि महाभारत के पूर्व्व में जो भागवत था एवं जो अष्टादश पुराणों के अन्तर्गत था, उससे भिन्न यह शुक-प्रोक्त भागवत है जो महाभारत के पश्चात् आविर्भूत हुआ है, तो यह शङ्का मार्कण्डेय आदि पुराणों पर भी उदित होगा। मार्कण्डेय पुराण के प्रथम अध्याय में कथित है -

भगवन्! भारताख्यानां व्यासेनोक्तं महात्मना।
पूर्णमस्त्यमलैः शब्दैर्नानाशास्त्रसमुच्चयैः।।
इत्यादि।
तदिदं भारताख्यानं बह्वर्थं बहुविस्तरम्।
तत्त्वतो ज्ञातुकामोऽहं भगवंस्त्वामुपागतः।।

अर्थात् "हे भगवन्! महाभारत का आख्यान महात्मा श्री व्यासदेव के द्वारा कथित हुआ। यह अमल शब्दों से व नानाविध शास्त्रों से पूर्ण है।" इत्यादि। "यह महाभारत बहु-विस्तृत है एवं इसके बहुत अर्थ हैं। भगवन्! इसको तत्त्वतः जानने की इच्छा से मैं आपके निकट आया हूँ।" ऐसा कहकर जैमिनी द्वारा चार प्रश्न पूछे गए, जिनसे पुराण-कथा अवतरित होती है। यह पुराण यदि महाभारत के पश्चात् न उक्त हुआ हो तो यह असंगत हो जाता है। इससे मार्कण्डेय-पुराण का भी अष्टादश पुराणों से बहिगर्मन हो गया।

उसी प्रकार अग्नि-पुराण के आरम्भ में (१.३) है ऋषि शौनक द्वारा श्री सूत को पूछा गया - "सूत! त्वं पूजितोऽस्माभिः.....।" अर्थात् "हे सूत! आप हम सब द्वारा पूजित हैं। हमें सार का सार बताएँ।" "सारात् सारतरं हि..." अर्थात् "सभी सार वस्तुओं से भी उत्तम सार वस्तु हैं भगवान् श्री विष्णु जो अव्यय ईश्वर हैं" इत्यादि कहकर, पुराण को प्रारम्भ कर, वह समस्त विद्या-सार को कहकर, प्रसङ्ग से अन्त में "गीता सार बताऊँगा" ऐसी प्रतिज्ञा कर, "दैवी ह्येषा गुणमयी" इत्यादि कुछ श्लोकों को उन्होंने बताया। केवल अर्थ को बताने के लिए उन्हें सम्पूर्ण श्लोकों को यथावत् बोलने की आवश्यकता नहीं थी। अतः अग्नि-पुराण का भी अष्टादश पुराणों से बहिगर्मन हुआ।

अतः इनकी काल-विवक्षा नहीं होती है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि भागवत-आदि तीनों पुराण अष्टादश पुराणों के अन्तर्भूत ही हैं। अतः समस्त इतिहास व पुराण अनादि-सिद्ध हैं। श्री व्यासदेव से केवल इनका प्राकट्य हुआ। यह बात कदापि नहीं भूलनी चाहिए ॥५॥

।। इति श्रीमद्भागवत का अष्टादश पुराणों के
अतिरिक्तत्ववाद का निरसनरूप तृतीया प्रभा ।।३।।

चतुर्थी प्रभा

प्रणम्य च शिवां देवीं शर्वं भागवतं तथा।
पुराणं सम्प्रवक्ष्यामि यथोक्तमृषिभिः पुरा॥
इति वाक्यात्तु ये देवीपुराणं द्वेषसङ्कुलाः।
ऊचुर्भागवतं ते हि स्वमौढ्यं प्रवितन्वते॥१॥

"शिवा देवी को प्रणाम कर एवं भागवत शिव को प्रणाम कर हम इस पुराण को बताते हैं जिसे पुराकाल में ऋषियों ने बताया था।" इस वाक्य से जो विद्वेषीगण देवी पुराण को भागवत कहते हैं, वे अपनी मूढ़ता को ही प्रकाशित करते हैं। (उपरोक्त प्रथम श्लोक देवी पुराण का श्लोक है। कुछ शाक्तों के अनुसार यहाँ "भागवत" शब्द "पुराण" का विशेषण है, न कि "शिव" का। अतः वे इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार बताते हैं- "शिवा देवी को एवं शिव को प्रणाम कर हम इस भागवत पुराण को बताते हैं जिसे पुराकाल में ऋषियों ने बताया था।" इस अध्याय में श्री विद्याभूषणपाद इस भ्रमित अर्थ का खण्डन करते हैं ॥१॥

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

एवं शुकपरीक्षित्सम्वादरूपं श्रीभागवतमष्टादशान्तर्गतमहापुराणमित्यापाद्य तत्र शाक्तैककृतानि शङ्कान्तराणि निराकर्तुं प्रवर्त्तते। तथाहि ननु प्रणम्य चेत्यादिके देवीपुराणस्य प्रथमे पद्ये तत्र भागवतपदप्रयोगाद् भगवत्या इदं भागवतमिति योगाच्च देवीपुराणमेव भागवतमस्तु यल्लक्षणादिकं मात्स्ये प्रोक्तं—न चेदं भुवि शुकप्रोक्तत्वेन प्रचरदिति चेत्तत्राह—प्रणम्य चेत्यादि प्रकटार्थम्॥१॥

अनुवाद

इस प्रकार शुक-परीक्षित्-संवाद रूप श्रीमद्भागवतम् अष्टादश पुराणों के अन्तर्गत एक महापुराण है - इस तथ्य को स्थापित कर, केवल शाक्तों द्वारा कृत एक अन्य शंका का निराकरण करने के लिए प्रवृत्त होते हैं। देवी पुराण के प्रथम श्लोक में आए "भागवत" शब्द का अर्थ यह लोग इस प्रकार बताकर- "जो भगवती का है, वह है भागवत" - देवी-पुराण को ही भागवत-पुराण बताते हैं, जिसके लक्षण मत्स्य-पुराण में दिए गए हैं। उनके अनुसार श्रीशुक द्वारा प्रोक्त ग्रन्थ भागवत नहीं है। इसके उत्तर में इस श्लोक की रचना करते हैं। "प्रणम्य च" इत्यादि श्लोक का अर्थ स्पष्ट है ॥१॥

मात्स्यादौ यद् भागवतं प्रोक्तं तच्छुकभाषितम्।
न तद्देवीपुराणं स्याल्लक्षणादि-विपर्य्ययात्॥२॥

मत्स्य-पुराण इत्यादि में जिस भागवत का उल्लेख है, वह श्रीशुक द्वारा प्रोक्त है। ग्रन्थों के अर्थ में विपर्य्यय होने के कारण, वह देवी-पुराण नहीं हो सकता ।।२।।

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

तेषां मौढ्यं प्रपञ्चयति—मात्स्यादाविति। मात्स्ये स्कान्दे च यस्य लक्षणं गायत्रीसमारब्धत्वं कथितं, यस्य संख्या चाष्टादश-सहस्त्री वर्णिता, तद्धि पाद्मादौ शुकभाषितत्वेनोक्तं ग्राह्यं, न तु देवीपुराणम्। तत्र मात्स्याद्युक्तयोर्लक्षण-संख्ययोरभावात्। तद्विपरीतयोस्तयोः सत्त्वाच्च। तस्य हि विजयत्रैलोक्याभ्युदयशुम्भनिशुम्भमथनाख्य-पादत्रयविशिष्टत्वं लक्षणम्। लक्षञ्च तस्य सङ्ख्योक्ता। 'लक्षमात्रेण श्लोकस्य विद्या देवेन भाषिते' त्यभ्युदय-पादपूर्त्त्यध्यायस्थवाक्यात्। शुकपरीक्षित्सम्वादस्तु तत्र क्वापि नास्ति। किञ्चाध्यायसमाप्तौ निबन्धेषु तदुदाहृतौ च देवीपुराणनाम्नैव समाप्तिरुदाहृतिश्च दर्श्यते, न तु भागवतनाम्नेत्यतो देवीपुराणं भागवतं ब्रुवन्तः शुकभाषिततद्विद्वेषिणो विमूढ़ा एव विदिताः। एतेन 'हेमसिंह-समन्वितमिति' सिंहवाहिनीत्वेन लिङ्गेन देवीपुराणत्वशङ्कनं क्षणजीवनञ्च निरस्तम्। न खलु तत्र तत्तद्वाहनोपेतानि पुराणानि देयान्युच्यन्ते। किन्तु जलधेन्वाद्युपेतान्येव। तस्मात् सिंह-शब्देन सिंहासनं वाच्यम्। पुस्तकाधारत्वेन तस्यापेक्ष्यत्वाद् भीमो भीमसेन इतिवदेकदेशेनापि पूर्णनामाभ्युपगमाच्च। यस्य चतुर्षु पादेषु हेम्नां सिंहाः सन्तीत्येके ॥२॥

अनुवाद

उनकी मूढ़ता को प्रकाशित कर रहे हैं इस श्लोक में। मत्स्य व स्कन्द पुराणों में जिसका लक्षण गायत्री से आरम्भ होना बताया गया है, एवं जिसकी श्लोक संख्या अष्टादश-सहस्र बताई गयी है, उसे पद्म-पुराण आदि में उक्त श्रीशुक भाषित पुराण ही समझना होगा, देवी पुराण नहीं। क्योंकि इसमें मत्स्य-पुराण इत्यादि में उक्त लक्षण व श्लोक-संख्या नहीं है। वस्तुतः इसके विपरीत लक्षण ही वहाँ उक्त हैं। इसके (देवी-पुराण के) विशिष्ट लक्षण पादत्रय बताया गया है- विजय, त्रिलोक का अभ्युदय (मंगल) एवं शुम्भ-निशुम्भ-वध की कथा। उसकी श्लोक संख्या भी एक लक्ष कथित है। यह अभ्युदय-पाद-पूर्त्ति अध्याय के वाक्य से जाना जाता है - "लक्ष-मात्रेण श्लोकस्य विद्या देवेन भाषिता।" शुक-परीक्षित् संवाद तो उसमें कहीं नहीं है। अपर बात यह है कि अध्यायों की समाप्ति पर एवं विभिन्न निबन्धों के उदाहरण में देवी पुराण नाम से ही समाप्ति की उदाहृति दिखती है, भागवत नाम से नहीं। अतः देवी पुराण को भागवत कहने वाले लोग श्रीशुक-प्रोक्त

भागवत के विद्वेषी एवं विमूढ़ होते हैं। इसके द्वारा ''हेमसिंह समन्वितम्'' को ''सिंह है जिसका वाहन'' इस अर्थ से देवी पुराण समझने के प्रयास को निरस्त किया गया। वहाँ वाहनों सहित पुराणों को दान करना उक्त नहीं है, किन्तु जल, धेनु इत्यादि सहित बोला गया है। अतः ''सिंह'' शब्द से ''सिंहासन'' शब्द ही वाच्य है, क्योंकि (दान देते समय) पुस्तक के आधार के रूप में उसकी आवश्यकता है। जिस प्रकार देशी शब्द ''भीम'' से पूर्ण शब्द ''भीमसेन'' ज्ञात होता है, उसी प्रकार। कुछ का मत है - जिसके (पुस्तक के आधार के) चार पदों में सुवर्ण सिंह की आकृति हो, वही सिंहासन है ।।२।।

तत्र भागवतत्वेन शर्व्वस्यैव विशेषणात्।
तथेति व्यवधानाच्च पुराणं न विशिष्यते ॥ ३ ॥

वहाँ (इस अध्याय के प्रथम श्लोक में, जो देवी-पुराण का श्लोक है), ''भागवत'' शब्द, ''शर्व्व'' (शिव) का विशेषण होने से, एवं ''तथा'' शब्द के व्यवधान होने से यह ''भागवत'' शब्द पुराण का विशेषण नहीं है ।।३।।

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

प्रणम्य चेत्यादिवाक्याद्देवीपुराणे भागवतत्व-भ्रान्तिं निरस्य तस्य वाक्यस्य वास्तवार्थं दर्शयति। तत्र पद्ये भागवत-शब्दस्य शर्वविशेषणत्वात् तथा-शब्देन व्यवधानाच्च पुराणं श्रीभागवतमिति न विशेषणीयमिति। शर्वस्य भागवतत्वन्तु—'भस्मोद्धूलितदेहस्तु जटामण्डल-मण्डितः। अहं ध्यायामि तं विष्णुं परमात्मानमव्ययम्। विष्णोराराधनार्थं मे व्रतचर्य्या पितामहेति' गारुडे द्वितीयाध्याये (१०/११)तद्वाक्यात्। न च भगवत्या इदं भागवतमिति वाच्यं, स्त्रीभ्यो ढगिति ढकाणो बाधात्। तथात्वे तद्विषयकस्य सर्वस्य तत्त्वापत्तेः। तस्माद् भगवत्प्रोक्तत्वभगवद्देवताकत्त्वैकतररूपावयवशक्त्या समुदायशक्त्या च शुकभाषितशास्त्रं वाच्यं बोधयन्नयं भागवत-शब्दः पङ्कजादि-शब्दवद् योगरूढो बोध्यः॥३ ॥

अनुवाद

''प्रणम्य'' इत्यादि वाक्य से (इस अध्याय का प्रथम श्लोक), देवी पुराण में भागवतत्व की भ्रान्ति का निरास कर, अब उस वाक्य का वास्तविक अर्थ दर्शाया जाता है। उस पद्य में ''भागवत'' शब्द ''शर्व्व'' का विशेषण होने के कारण एवं ''तथा'' शब्द के व्यवधान के कारण, वह ''भागवत'' शब्द पुराण का विशेषण नहीं हो सकता है। शर्व्व का भगवतत्व तो गरुड़-पुराण (२.१०-११) के वाक्य से स्थापित होता है-

भस्मोद्धूलितदेहस्तु जटा-मण्डल-मण्डितः।
अहं ध्यायामि तं विष्णुं परमात्मानमव्ययम्।
विष्णोराराधनार्थं मे व्रतचर्य्या पितामह।।

अर्थात्, "हे पितामह ब्रह्मा! श्रीविष्णु की आराधना के लिए, व्रतचर्य्या द्वारा, शरीर में भस्म लिप्त कर, जटा-मण्डल-मण्डित होकर, अव्यय परमात्मा श्रीविष्णु का मैं ध्यान करता हूँ।" और भी "भगवत्या इदं इति भागवतम्" अर्थात्, "यह भगवती का है अतः भागवत है" इस प्रकार भागवत शब्द की व्युत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि व्याकरण में "स्त्रीभ्यो ढक्" सूत्र के अनुसार "अन्" की बाधा हो रही है। (यह शास्त्र भगवती का है- इस अर्थ को प्रकाशित करने के लिए, "भगवती" शब्द स्त्रीलिंग होने से "अन्" के स्थान पर "ढक्" होगा। अर्थात् इसके लिए "भगवतीय" पद निष्पन्न होगा, न कि "भागवत" पद)।

यदि ऐसा होता तो इस विषयक समस्त ग्रन्थ तत्त्व (भगवान्) को प्राप्त करते (अर्थात् "भागवत" पद के वाच्य हो जाते)। अतः भगवान् द्वारा प्रोक्त अथवा भगवान् जिनके प्रतिपाद्य देवता हैं-इन दोनों रूपों में श्री शुकदेव द्वारा भाषित शास्त्र श्रीमद्भागवतम् को समझते हुए दोनो अर्थों में - व्युत्पत्ति के आधार पर एवं सामुदायिक अर्थ के आधार पर - इस "भागवत" शब्द को "पंङ्कज" शब्द की भाँति योगारूढ़ शब्द समझना होगा ।।३।।

यदिदं कालिकाख्यञ्च मूलं भागवतं स्मृतम्।
इत्युक्तेः कालिकाभिख्यं यद् भागवतमूचिरे।
तच्च प्रमादाद्विद्वेषाच्चेति प्राहुर्विपश्चितः ॥४॥

"कालिका पुराण का यह आख्यान मूल भागवत कहा जाता है" इस उक्ति से जो कालिका-पुराण को भागवत कहते हैं, वह प्रमाद व द्वेष के कारण है - इस प्रकार बुद्धिमान् गण कहते हैं ॥४॥

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

ननु यदिदमित्यादिकात् पुराणदान-प्रसङ्गे कालीपुराणवाक्यात् कालीपुराणं भागवतमस्तु यदष्टादशसु गण्यते, न त्वेतत् सम्प्रति भागवतत्वेन भुवि प्रचरदिति केचित् कालीभक्ताः कल्पयन्ति-तान्निरस्याह—यदिदमिति सार्द्धेन। प्रमादादिति—मात्स्ये यद्भागवतं लक्षणसङ्ख्याभ्यां वर्णितं न तत्कालीपुराणम्। तल्लक्षणसंख्ययोस्तत्राभावात्। पाद्मादौ श्रीभागवतस्य शुकभाषितत्वञ्च लक्षणं तत्कालिकापुराणे नास्त्येव, ततः प्रमादात् श्रीभागवते विद्वेषात्तथा वदन्तोऽतिविमूढास्ते इत्यर्थः ॥४॥

अनुवाद

पुराण-दान के प्रसङ्ग में कुछ काली-भक्त, काली-पुराण के वाक्य से, काली-पुराण को भागवत समझते हैं जो अष्टादश पुराणों में गण्य है, एवं सम्प्रति जगत् में प्रचारित भागवत ग्रन्थ को नहीं मानते हैं। इनकी इस कल्पना का निरसन करते हैं डेढ़ श्लोक में। यहाँ प्रमाद का अर्थ इस प्रकार है। मत्स्य पुराण में जो भागवत के लक्षण व संख्या वर्णित हैं, वह काली-पुराण के नहीं हो सकते क्योंकि काली-पुराण के लक्षण व श्लोक-संख्या भिन्न हैं। पद्म-पुराण व अन्य ग्रन्थों में उक्त श्रीमद्भागवतम् का शुक-भाषितत्व का लक्षण कालिका पुराण में नहीं है। अतः प्रमाद से एवं श्रीमद्भागवतम् में विद्वेष के कारण वे मूढ लोग इस प्रकार बोलते हैं ॥४॥

एतस्योपपुराणत्वान्मात्स्योक्तत्वं विमूढता।
त्रयोदशत्वाद्यसिद्धेर्लैङ्गादीनां सुमूढता॥५॥

इति देव्यादिपुराणभागवतत्ववाद-निरासश्चतुर्थी प्रभा॥५॥

क्योंकि यह (कालिका पुराण) उपपुराण है, यह कहना कि इसकी (अर्थात् कालिका पुराण की) उक्ति मत्स्य पुराण में है (भागवत के रूप में), विमूढ़ता है। इससे लिंग पुराण का त्रयोदशत्व सिद्ध नहीं होता है (कालिका-पुराणोक्त उपपुराणों की गणना के अनुसार)। अतः इस प्रकार बोलना सुमूढ़ता है ॥५॥

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

किञ्च, मात्स्ये लक्षण-सङ्ख्याभ्यां पुराणानि लक्षयित्वा तेषां दानमाहात्म्यानि चोक्तानि। अस्य कालीपुराणस्योपपुराणमध्ये गणितत्वान्मात्स्योक्तं श्रीभागवतमिदमेवेति ब्रुवन्तो विमूढ़ा भवन्ति। अपिच तत्रैव कालीपुराणे उपपुराणान्यष्टादशोक्तानि। 'शैवं यद्वायुना प्रोक्तं वैरिञ्चं वैष्णवं तथा। यदिदं कालिकाख्यञ्च मूलं भागवतं स्मृतम्। सौरञ्च नारदीयञ्च मार्कण्डेयञ्च वह्निजम्। भविष्यं ब्रह्मवैवर्त्तं लैङ्गञ्चैव त्रयोदशम्। वामनं कौर्मं मात्स्यञ्च सप्तदशञ्च गारुड़म्। स्कान्दमष्टादशं प्रोक्तं पुराणञ्च न संशयः' इति। यदि च कालिकाख्यं पुराणं भागवतमिति सम्बध्यते, तर्हि लैङ्गादीनां त्रयोदशत्वाद्यनुपपत्तिरिति। तथा ब्रुवन्तस्ते सुमूढ़ा इत्यर्थः। तस्माद् भागवताख्यमुपपुराणमिदमन्यदेव। यत् सौरपुराणे-'ततो भागवतं प्रोक्तं भागद्वयसमन्वितमिति' कृतं लक्षणं (९/८)। ददाति सूर्य्यभक्ताय यस्तु भागवतं द्विजाः। सर्वपाप-विनिर्मुक्तः सर्वरोगविवर्जितः। जीवेद्वर्षशतं साग्रमन्ते वैवस्वतं पदमिति(९/२०, २१) यस्य दानफलं प्रोक्तम्। कौर्मे च प्रथमाध्याये

उपपुराणसङ्ख्यैवमस्ति। 'आद्यं सनत्कुमारोक्तं नारसिंहं ततः परम्। तृतीयं स्कान्दमुद्दिष्टं कुमारेण तु भाषितम्।। चतुर्थं शिवधर्माख्यं साक्षान्नन्दीशभाषितम्। दुर्वाससोक्तमाश्चर्य्यं नारदीयमतः परम्।। कापिलं मानवञ्चैव तथैवोशनसेरितम्। ब्रह्माण्डं वारुणञ्चाथ कालिकाह्वयमेव च।। महेश्वरं तथा साम्बं सौरं सर्वार्थसञ्चयम्। पराशरोक्तमपरं मारीचं भार्गवाह्वयम्।।' इति च। तस्मादेतानि शैवादीनि पुष्करपुराणशिवरहस्य-विष्णुधर्मोत्तरादिवदुपपुराणान्येव। तेषूक्तं भागवतमन्यदेव यद् व्युदासाय श्रीधरस्वामिभिः शङ्कितं भागवतं नामान्यदिति नाशङ्कनीयमिति (श्रीमद्भागवतम् १/१/१ श्रीधरस्वामी-टीका) ॥५॥

इति चतुर्थी प्रभा व्याख्याता ॥४॥

अनुवाद

मत्स्य-पुराण में लक्षण एवं श्लोक संख्या के द्वारा पुराणों को लक्षित करके, उनके दान-माहात्म्य के विषय में बोला गया है। वहाँ इस काली-पुराण की गणना उप-पुराण में की गई है। अतः मत्स्य-पुराण में उक्त भागवत-पुराण यही (काली-पुराण) है - इस प्रकार बोलने वाले विमूढ होते हैं। उसी काली-पुराण में अष्टादश उपपुराणों के नाम उक्त हैं।

शैवं यद्वायुना प्रोक्तं वैरिञ्च वैष्णवं तथा।
यदिदं कालिकाख्यञ्च मूलं भागवतं स्मृतम्।।
सौरञ्च नारदीयञ्च मार्कण्डेयञ्च वह्निजम्।
भविष्यं ब्रह्मवैवर्त्तं लैङ्गञ्चैव त्रयोदशम्।।
वामनं कौर्मं मात्स्यञ्च सप्तदशञ्च गारुडम्।
स्कान्दमष्टादशं प्रोक्तं पुराणञ्च न संशयः।।

अर्थात् "शिव पुराण, वायु पुराण, ब्रह्म पुराण, विष्णु पुराण और यह कालिका पुराण, मूल भागवत, सूर्य पुराण, नारद पुराण, मार्कण्डेय पुराण, अग्नि पुराण, भविष्य पुराण, ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण एवं त्रयोदश लिंग पुराण हुआ। वामन पुराण, कूर्म्म पुराण, मत्स्य पुराण, सप्तदश है गरुड़ पुराण एवं अष्टादश स्कन्द पुराण प्रोक्त है। यह पुराण हैं, इसमें कोई संशय नहीं है।"

इस श्लोक के अनुसार कालिका पुराण को यदि "भागवत" शब्द से सम्बद्ध किया जाए, तो लिंग-पुराण-आदि के त्रयोदश-आदि संख्या सिद्ध नहीं होंगे। (अर्थात् श्लोक में जो सप्तदश एवं अष्टादश संख्या उक्त हैं, वह भी सिद्ध नहीं होंगे)। इसका अर्थ यह है कि इस प्रकार बोलने वाले सुमूढ़ हैं। अतः भागवत नाम से जो उपपुराण आख्यात है, वह अन्य ग्रन्थ है। सूर्य्य-पुराण में उक्त है (६.८)-

ततो भागवतं प्रोक्तं भागद्वयसमन्वितम्

अर्थात्, ''भागवत नाम का पुराण दो भागों में है'' – इस प्रकार लक्षण बताया गया है। (यह भागवत नाम के उपपुराण का लक्षण है, न कि श्रीमद्भागवत महापुराण का जो द्वादश स्कन्धों में विभाजित है।)

इसका दान-फल इस प्रकार (६.२०-२१) उक्त है –

ददाति सूर्यभक्ताय यस्तु भागवतं द्विजाः।
सर्व-पाप-विनिमुर्क्तः सर्व्वरोगविवर्ज्जितः।
जीवेद्वर्षशतं साग्रमन्ते वैवस्वतं पदम्।

(अर्थात् – ''हे द्विजगण! जो सूर्य्य के भक्तों को भागवत दान करता है, वह सभी पापों से विनिर्मुक्त होता है एवं सभी रोगों से विवर्ज्जित होता है। वह शत वर्षों से भी अधिक जीता है एवं अन्त में वैवस्वत-पद को प्राप्त करता है।'')

कूर्म्म-पुराण के प्रथम अध्याय में उप-पुराणों की संख्या इस प्रकार है –

आद्यं सनत्कुमारोक्तं नारसिंहं ततः परम्।
तृतीयं स्कान्दामद्दिष्टं कुमारेण तु भाषितम्।।
चतुर्थं शिवधर्म्माख्यं साक्षान्नन्दीश-भाषितम्।
दुर्व्वाससोक्तमाश्चर्य्यं नारदीयमतः परम्।।
कापिलं मानवञ्चैव तथैवोशनसेरितम्।
ब्रह्माण्डं वारुणञ्चाथ कालिकाह्वयमेव च।
माहेश्वरं तथा साम्बं सौरं सर्व्वार्थसञ्चयम्।
पराशरोक्तमपरं मारीचं भार्गवाह्वयम्।।

(अर्थात्-''प्रथम है सनत्कुमार द्वारा उक्त, उसके पश्चात् है नरसिंह का, तृतीय है स्कन्द (कार्त्तिकेय) का, चतुर्थ है शिवधर्म जो साक्षात् नन्दी द्वारा भाषित है, दुर्व्वासा का, तत्पश्चात् नारद का, कपिल का, मनु का, शुक्राचार्य्य का, ब्रह्माण्ड-पुराण, वरुण का, कालिका का, महेश्वर का, साम्ब का, सूर्य्य का, मारीच का, भृगु का।'')

अतः यह शैव इत्यादि पुराण (जो कालिका-पुराण में उक्त हैं) उप-पुराण हैं जैसे पुष्कर-पुराण, शिव-रहस्य-पुराण, विष्णु-धर्म्मोत्तर-पुराण इत्यादि। इनमें (उप-पुराणों में) उक्त भागवतम् एक अन्य ग्रन्थ है। इसके निरसन के लिए श्रीधर स्वामीपाद के द्वारा श्रीमद्भागवतम् के प्रथम श्लोक की टीका में यह लिखा गया है कि श्रीमद्भागवत कोई अन्य ग्रन्थ नहीं है, ऐसी शंका का होना उचित नहीं ॥५॥

।। इति देवी-पुराण आदि का भागवतत्ववाद का निरास विषयक चतुर्थी प्रभा ।।४।।

पञ्चमी प्रभा

शङ्कापङ्कविलिप्तत्वादप्रामाण्यं यदीष्यते।
वेदादौ चिरशङ्कास्ति तस्यापि च तदिष्यतां॥१॥

शङ्कापङ्क में विलिप्त होने के कारण यदि श्रीमद्भागवतम् का अप्रामाण्य स्वीकृत होता है, तो वेदादि में भी चिर समय से शङ्का रहने के कारण, उसका भी अप्रामाण्य स्वीकृत हो ॥१॥

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

ननु श्रीधरस्वामिभिः शङ्कितत्वादिदं सम्प्रचरद् भागवतमप्रमाणं, न हि बीजमन्तरा शङ्कोद्भवति इति चेत्तत्राह—शङ्केति। तत्परिहारो वेदादाविति; सौगतैर्वेदस्य मुनिभण्डादि-कृतत्वमाशङ्क्यते। सांख्यैश्च मृदब्रवीदपोऽब्रुवन्नित्यादि-दर्शनादनाप्तत्वं तस्य शङ्कितम्। जैमिनिना काठकादिसंज्ञादर्शनात्तस्य पौरुषेयत्वं शङ्कितम्। आचारमाधवेऽपि स्मृतीनामप्रामाण्यं शङ्कितम्। तथा वेदवाच्येशस्य कालस्य च सांख्यैरभावः समर्थ्यते। निर्गुणः परमात्मेति केवलाद्वैतिभिरुपपाद्यते। सांख्यैरेव वेदवाच्यस्य ज्योतिष्टोमादेर्हिंसादोषेणाननुष्ठेयत्वमुच्यते। न चैतावता वेदादीनामप्रामाण्यादिकं स्यात्, तदप्रामाण्यादेः परिहृतत्वात्। शङ्कितं वस्तु प्रक्षालितशङ्कं सत् स्थूणानिखात-न्यायेन दार्ढ्यमासीदिति न शङ्कामात्रेणाप्रामाण्यम्। अबाधिता खलु शङ्का प्रामाण्यमपनयति। न तु बाधितापीति। ननु मार्कण्डेयादौ शङ्काविरहात् तत्प्रमाणमेव। अत्र सम्प्रचरति श्रीभागवते शङ्कासत्तादप्रामाण्यमुच्यते इति चेन्मैवं भ्रमितव्यम्। मार्कण्डेयादौ तत्तत्कथा-प्रधानतया तस्मिन् दुर्धियां बलवद् विद्वेषाभावान्न शङ्कोदयः। श्रीभागवते त्वस्मिन् श्रीकृष्णैकभक्तिप्रतिपादके तदितरधर्म्मनिरासके तेषां बलवद्विद्वेषात्तद्धेतुना शङ्का स्यादेवेति यत्किञ्चिदेतत्। शङ्कामात्रेणाप्रामाण्ये वेदकल्पतरौ कुठारस्त्वया निक्षिप्यताम्॥१॥

अनुवाद

ऐसी आशङ्का हो सकती है कि श्रीधर-स्वामी इत्यादि मनीषियों द्वारा शङ्कित होने पर, आजकल प्रचारित श्रीमद्भागवतम् अप्रामाणिक ग्रन्थ है। (श्रीमद्भागवत की प्रामाणिकता सम्बन्धी शङ्कानिवारणार्थ श्रीधरस्वामीपाद ने जिस टीका की रचना की, उसी के आधार पर कुछ लोग ऐसी शङ्का करते हैं।) शङ्का के बीज के बिना शङ्का का उद्भावन नहीं होता है। इस आशङ्का के निरसन

के लिए इस श्लोक को रचा गया है। इस प्रकार के तिरस्कार वेद-आदि शास्त्रों का भी किया गया है। सौगतों (बौद्धों) द्वारा यह शङ्का की जाती है कि वेद के रचयिता मुनि-भण्ड इत्यादि हैं। वेदादि शास्त्रों में "मिट्टी ने कहा", "जल ने कहा" इत्यादि वाक्य देखकर, सांख्यों द्वारा उनकी विश्वसनीयता पर शङ्का की जाती है। वेद में काठकादि संज्ञा देखकर जैमिनी द्वारा उनके अपौरुषेयत्व पर शङ्का की जाती है। "आचारमाधव" ग्रन्थ में स्मृतिसमूह के प्रामाण्य पर शङ्का की गई है। साङ्ख्यवादियों द्वारा वेद-वाच्य ईश्वर एवं काल के अनस्तित्व का समर्थन किया जाता है। केवलाद्वैतवादियों द्वारा परमात्मा निर्गुण है- इसका प्रतिपादन किया जाता है। सांख्यवादियों द्वारा उक्त है कि ज्योतिष्टोम जैसे अनुष्ठान में हिंसा-दोष होने के कारण, वे करने योग्य नहीं हैं। इन सब के कारण वेद का अप्रामाण्य नहीं हो सकता क्योंकि इन अप्रामाण्यताओं के भी परिहार हैं। शङ्कित वस्तु से यदि शङ्का प्रक्षालित हो जाए तो स्थूणानिखात न्याय[२] से वह अधिक दृढ़ हो जाता है। शङ्का-मात्र से अप्रामाण्य नहीं होता है। शङ्का अबाधिता होने पर वह प्रामाण्यता के अभाव की द्योतना करती है, परन्तु बाधिता शङ्का नहीं। तो मार्कण्डेय-पुराण इत्यादि में शङ्का न होने के कारण उनको प्रमाण के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। परन्तु यहाँ प्रचलित श्रीमद्भागवत में शङ्का होने के कारण उसका अप्रामाण्य ही माना जाए। ऐसा भ्रमित मत न हो। मार्कण्डेयादि पुराणों में उन उन कथाओं का प्रधान्य होने से अल्प-बुद्धि वालों का विशेष विद्वेष नहीं होता है, अतः शङ्का का उदय भी नहीं होता है। परन्तु श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण-एक-भक्ति का प्रतिपादन हुआ है एवं उसके व्यतीत धर्मों का निरसन किया गया है, अतः इसमें उनका सविशेष विद्वेष होता है एवं तदुचित शङ्का भी हो सकती है। ऐसी शङ्का नगण्य होती है। शङ्का मात्र से यदि अप्रामाण्य होता हो तो आप वेद-कल्पतरु में ही कुठाराघात करें ॥१॥

श्रौतकर्म्मपरित्यागान्निबन्धेष्वनुदाहृतेः।
अप्रमाणमिदं वेदविरुद्धं प्रतिभाति नः॥२॥

हमलोगों को यह (श्रीमद्भागवतम्) अप्रमाण व वेद-विरुद्ध प्रतीत होते हैं क्योंकि इसमें श्रौत कर्म्मों के परित्याग का निर्देश है एवं निबन्धों में इसके उदाहरण नहीं है ।।२।।

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

ननु कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः (ईश० उप० २)। अहरहः सन्ध्यामुपासीत। यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति। 'वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते'

२ - पुनः पुनः प्रहार करके जिस प्रकार खूँटी को दृढ़ता से गाढ़ दिया जाता है, उसी प्रकार युक्ति-तर्क के द्वारा किसी दुरूह विषय को हृदयङ्गम करने के प्रयास को स्थूणानिखात-न्याय कहते हैं।

(कृष्ण यजुर्वेद १.५.२) इत्यादि श्रुतिभिर्येषां यावज्जीवं कर्त्तव्यतोक्ता। येषां त्यागे वीरहा वीरघातः प्रत्यवायः श्रावितस्तेषां वर्णाश्रमकर्मणां भागवतेन त्यागाभिधानात्तस्य वेदविरुद्धत्वम्। यदुक्तं प्रथमे (५/१७)—'त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि। यत्र क्व वाऽभद्रमभूदमुष्य किं को वार्थ आप्तो भजतां स्वधर्मतः' इति। एकादशे (११/३२)च—'आज्ञायैव गुणान् दोषान् मया दिष्टानपि स्वकान्। धर्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान् मां भजेत् स च सत्तमः' इति। एवमनेकत्र च तत्र कर्मत्यागः पठ्यते। प्राचीनेषु निबन्धेष्वेतद्वचसामनुदाहरणाच्च वेदविरुद्धं श्रीभागवतं प्रमाणं नेति ॥२॥

अनुवाद

"कुर्व्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेत् शतं समाः" (कर्म्म करते हुए ही शत वर्षों तक जीए), "अहरहः सन्ध्यामुपासीत" (प्रतिदिन संध्या उपासना करनी चाहिए), "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति" (यावज्जीवन अग्निहोत्र करना चाहिए) "वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते" (जो देवताओं के यज्ञ के अग्नि को बुझाता है, वह हन्ता है), इत्यादि श्रुति-वाक्यों में आजीवन कर्त्तव्य बताए गए हैं। जिन कर्म्मों के परित्याग से वीरघातक पाप होने का सुनने में आता है, भागवत उन वर्णाश्रम के कर्म्मों के त्याग का अभिधान करने से भागवत वेद-विरुद्ध है। भागवत के प्रथम स्कन्ध में उक्त है (१.५.१७)

त्यक्त्वा स्वधर्म्मं चरणाम्बुजं हरेः
भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं
को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः।।

(स्वधर्म्म को त्यागकर श्री हरि के चरणाम्बुज को भजते हुए अपक्व अवस्था में यदि कोई पतित होता है तो उसका क्या अकल्याण होता है? जो श्री हरि के भजन नहीं करते हैं वे अपने धर्म्म में प्रवृत्त रह कर भी क्या प्राप्त कर लेते हैं?) उसी प्रकार एकादश स्कन्ध में उक्त है (११.११.३२)

आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयाऽऽदिष्टानपि स्वकान्।
धर्म्मान् सन्त्यज्य यः सर्व्वान् मां भजेत स सत्तमः।।

(जो मेरे द्वारा विहित गुण-दोष आदि एवं स्वकीय सकल धर्म्मादि भी त्याग-पूर्व्वक मेरा भजन करता है, उसी को साधु-श्रेष्ठ जानना चाहिए।) वहाँ इस प्रकार अनेक स्थानों पर कर्म्म-त्याग पढ़ने में आता है। प्राचीन निबन्धावलियों में भी इन वचनों का उदाहरण नहीं है, अतः श्रीमद्भागवतम् वेद-विरुद्ध है एवं यह कोई प्रमाण नहीं है। (इन संशयों का निरसन अग्रिम श्लोक

में द्रष्टव्य है।) ।।२।।

मैवं कर्म्म-परित्यागो वेदेनाप्यधिकारिणाम्।
दर्श्यते भारतेनापि किं मूढ! न हि पश्यसि? ॥३॥

वह (जो पूर्व्व श्लोक में उक्त है) समीचीन नहीं है। अधिकारी गणों का कर्म्म-परित्याग वेद में भी एवं महाभारत में दिखता है। हे मूढ़! क्या तुम यह नहीं देखते हो? ।।३।।

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

परिहरति—मैवमिति। 'एतद्ध स्म वै विद्वांस आहुर्ऋषयः कावषेयाः। किमर्था वयमध्येष्यामहे, किमर्था वयं यक्ष्यामहे' (ऐ० आरण्यक ३.६)। 'एतद्ध स्म वै पूर्वेऽविद्वांसोऽग्निहोत्रं जुहुवाञ्चक्रिरे' (कौषीतकि उप० २.४)। 'एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च व्युत्थाय भिक्षाचर्य्यां चरन्ति' (बृ० उप० ३.५.१) 'न कर्मणा न प्रजया न धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः' (महानारायण उप० ६.५) इत्याद्या श्रुतिः पारिव्राज्याधिकारे सति नित्यनैमित्तिक-कर्मणां त्यागं दर्शयति। एवं भारतेऽपि (शान्तिपर्वणि १७४-१८०) मोक्षधर्म्मे पितापुत्रसम्वादादिषु निवृत्तिरुपदिष्टा प्रवृत्तिस्त्याजितेति सूक्ष्मादिषु निरूपितम्। तथा शुद्ध भक्त्यधिकारे सति कर्म्म त्याजयता किमपराद्धं श्रीभागवतेनेति मौढ्यादेव ते तथा भणितिरिति ज्ञातम् ॥३॥

अनुवाद

पूर्व्व श्लोक में उक्त पक्ष का निराकरण करते हैं इस श्लोक में।

एतद्ध स्म वै विद्वांस आहुर्ऋषयः कावषेयाः।
किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे।
(ऐतरेय आरण्यक ३.६)

एतद्ध स्म वै पूर्वेऽविद्वांसोऽग्निहोत्रं जुहुवाञ्चक्रिरे।
(कौषीतकि उप० २.४)
एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च।
वित्तैषणायाश्च व्युत्थाय भिक्षाचर्य्यां चरन्ति।।
(बृ० उप० ३.५.१)
न कर्मणा न प्रजया न धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः।।

(महानारायण उप० ६.५)

(अर्थात् विद्वान्-गण इस प्रकार बोले हैं- हे कवष गोत्रीय ऋषिगण! हम क्यों अध्ययन करें एवं क्यों यज्ञादि करें? पूर्व्व-काल में अविद्वानगण ही अग्निहोत्र यज्ञ करते थे। परन्तु त्याग द्वारा ही अमृतत्व-लाभ होता है।) इत्यादि श्रुति-वाक्यों में पारिव्रज्य का अधिकार होने पर नित्य-नैमित्तिक कर्म्मों का त्याग दर्शाया गया है। इस प्रकार महाभारत में भी (शान्ति पर्व्व १७४-१८० में) मोक्ष-धर्म्म में पिता-पुत्र संवाद इत्यादि में निवृत्ति-मार्ग का उपदेश व प्रवृत्ति-मार्ग का त्याग निरूपित किया गया है। इस प्रकार शुद्ध-भक्ति में अधिकार हो जाने पर, कर्म्म-त्याग का उपदेश करने पर श्री भागवत द्वारा कौन सा अपराध हो गया? यह ज्ञात हुआ कि मूढ़ता के कारण वे इस प्रकार बोलते हैं ।।३।।

सम्वत्सर-प्रदीपादिष्वार्ष-वाक्येषु वित्तमैः।
वाक्यान्यस्य निबन्धेषु लिखितानि पुरातनैः॥
टीकाश्चास्य कृताः सद्भिर्बहवो वेदविद्वरैः।
यस्मान्न वीक्षसे तत्त्वं दिवान्धः परिकीर्त्त्यसे॥४॥

पुरातन विद्वद्गण द्वारा संवत्सर-प्रदीपादि ग्रन्थों में, आर्ष वाक्यों में व निबन्धों में इस श्रीमद्भागवतम् के वाक्यों को लिखा गया है। बहु उत्तम वेदविद् सन्तों द्वारा इसकी टीका की गई है। क्योंकि यह तत्त्व दृष्ट नहीं होता है, आप दिन में भी अन्धे बने हैं ।।४।।

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

प्राचीननिबन्धेष्वेतद्वचसामभावादनार्षत्वं यदुक्तं तत्परिहरति—सम्वत्सरेति प्रकटार्थम्। प्राचीन-गौड़कृते सम्वत्सरप्रदीपनाम्नि स्मार्त्तनिबन्धे गृहे भागवताभावे स्कान्दवचनैर्दोषं प्रदर्श्य कलिदोषतः पावित्र्याय कतिचिच्छ्रीभागवत-वचनापि लेख्यानीति प्रतिज्ञाय बहूनि तद्वाक्यानि तत्र लिखितानि। श्रीमध्वमुनिना चातिप्राचा तद्वाक्यानि स्वभाष्ये धृतानि। हेमाद्रिणा च प्राचा कलिधर्म्मनिर्णये 'कलि सभाजयन्त्यार्य्या' (११/५/३६) इत्यादीनि तद्वचांस्युदाहृतानि। वोपदेवेन च मुक्ताफलहरिलीलाख्यौ निबन्धौ परमहंसप्रियाख्या टीका चास्य कृता। सच्चरितमीमांसाख्ये स्मार्त्तनिबन्धे तत्कर्त्रा विद्यानिधिभट्टाचार्य्येण च -'देवर्षि भूताप्त' इत्यादीनि (११/५/४१) तद्वचांस्युपात्तानि। लक्ष्मीधरेण भगवन्नामकौमुद्यामनन्तदेवेन मथुरातीर्थप्रकाशे, वाचस्पतिना भक्तिप्रकाशे, मधुसूदनेन च भक्तिरसायने तद्वचनानि उपन्यस्तानि। विष्णुपुरी-नाम्ना यतीशेन तद् वाक्यैरेव भक्तिरत्नावली निबन्धो व्यधायि। तथाप्ययदीक्षितेन शिवतत्त्वविवेके 'कर्णौ पिधाय

निरियात्' इत्यादिकं (४/४/१७) तद्वाक्यमलेखि। निर्णयसिन्धौ च वामनजयन्ती-निर्णये 'श्रोणायां श्रवणद्वादश्याम्' इत्यादि (८/१८/४) तद्वाक्यं प्रमाणितम्। भट्टोजिदीक्षितेन च चतुर्विंशतिमतव्याख्यायां तर्पणोत्तरे पूजानिर्णये 'मूर्त्याभिमतयात्मनः' इत्यादि (११/३/४८) तद्वाक्यमलेखि। भगवद्भास्करेण श्राद्धमयूखे 'न दद्यादामिषं श्राद्धे' (७/१५/७) इत्यादिकमामिष-निषेधकमुदाहृतम्। एवं दिनकरोद्योतादिष्वेतद्वाक्यानि उक्तानि द्रष्टव्यानि। टीका चास्य चित्सुखी-विजयध्वजी-विद्वत्कामधेनु-सम्बन्धोक्ति-तत्वदीपिका -शुकहृदया-सुदर्शनी-मुनिभावप्रकाशिका-भावार्थदीपिकाद्याः प्राचीनाः। अर्वाचीनाश्च बह्व्यः सन्ति। एतैः सर्वविद्वद्वरैः शतसंख्याकैर्महद्भिरभ्यर्च्चितं श्रीमद्भागवतं अस्वीकुर्वन्नत्यज्ञः कुण्डजोऽसि विज्ञातः। माधवसरस्वतीनामानं यतिं प्रति श्रीमद्भागवतमनार्षं ब्रुवन् कश्चित् पण्डितस्तेन यतिना च जारजोऽयमित्युक्तैः पण्डितैः स गोलक एव निश्चित इति काश्यां प्रसिद्धिः ॥४॥

इति पञ्चमी प्रभा व्याख्याता ॥५॥

अनुवाद

पूर्व्व श्लोक में जो उक्त है कि प्राचीन निबन्धों में इसका उल्लेख नहीं है एवं यह अनार्ष है, उसका परिहार करते हैं इस श्लोक में। श्लोक का अर्थ प्रकट है। प्राचीन-गौड़ द्वारा कृत संवत्सर-प्रदीप नामक स्मार्त्त-निबन्ध में, स्कन्द-पुराण के वचन के अनुसार गृह में श्रीमद्भागवत के अभाव से उत्पन्न दोष का उल्लेख करते हुए कलि-दोष के पवित्रता-विधान के लिए श्रीमद्भागवत के कतिपय वचन लिखूँगा - इस प्रकार लिख कर इस ग्रन्थ में श्रीमद्भागवत के प्रचुर वचनों का उद्धार किए हैं। अति प्राचीन मध्व-मुनि भी अपने भाष्यों मे श्रीमद्भागवत के वचनों का उल्लेख किए हैं। प्राचीन हेमाद्रि द्वारा कलि-धर्म्म-निर्णय में श्रीमद्भागवत का वचन (११.५.३६) कलिं सभाजयन्त्यार्य्या इत्यादि का उल्लेख किए हैं। वोपदेव ने भी इस श्रीमद्भागवत पर मुक्ताफलम् व हरिलीला नामक निबन्ध एवं परमहंस-प्रिया नामक टीका की रचना की है। स्मार्त्त निबन्ध, सच्चरित-मीमांसा में उसके कर्त्ता, विद्यानिधि भट्टाचार्य्य ने श्रीमद्भागवत का श्लोक (११.५.४१) देवर्षिभूताप्तनृणां इत्यादि (हरिभक्तगण देव, ऋषि प्रभृति के ऋणी नहीं होते हैं) श्लोकों का उल्लेख किया है। लक्ष्मीधर द्वारा भगवन्नाम-कौमुदी में, अनन्त-देव द्वारा मथुरातीर्थप्रकाश में, वाचस्पति द्वारा भक्ति-प्रकाश में, एवं मधुसूदन द्वारा भक्ति रसायन में श्रीमद्भागवत के वचनों को न्यस्त किए गए हैं। विष्णु-पुरी नामक यतीन्द्र द्वारा इसी के वाक्यों को भक्ति-रत्नावली नामक ग्रन्थ में उपन्यस्त किया गया है एवं अप्यय-दीक्षित द्वारा शिवतत्त्वविवेक में श्रीमद्भागवत का वाक्य (४.४.१७) कर्णौ पिधाय निरयात् (कान बन्द करके प्रस्थान करना ही उचित है) इत्यादि वाक्यों को लिखे हैं। निर्णयसिन्धु में वामन-जयन्ती-निर्णय में इसका वाक्य (८.१८.५) श्रोणायां श्रवणद्वादश्यां

(श्रावण-द्वादशी में श्रीहरि का आविर्भाव हुआ) को प्रमाणित किया गया। भट्टोजीदीक्षित द्वारा चतुर्विंशति-मत की व्याख्या में तर्पण के पश्चात् पूजा-निर्णय में इसका वाक्य (११.३.४८) मूर्त्याभिमतयाऽऽत्मनः इत्यादि का उल्लेख किया गया है। भगवद्भास्कर के द्वारा श्राद्धमयूख में (७.१५.७) न दद्यादामिषं श्राद्धे (श्राद्ध में आमिष नहीं देना चाहिए) इत्यादि आमिष-निषेध वाक्यों का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार दिनकरोद्योत-आदि में इसके वाक्यों का उल्लेख देखे जा सकते हैं। इसकी प्राचीन टीकाएँ हैं - चित्सुखी, विजयध्वजी, विद्वत्-कामधेनु, सम्बन्धोक्ति, तत्त्व-दीपिका, शुकहृदया, सुदर्शनी, मुनिभाव, प्रकाशिका, भावार्थ-दीपिका, इत्यादि। बहु अर्वाचीन टीकाएँ भी हैं। इन सब विद्वद्वर द्वारा अत्यर्च्चित श्रीमद्भागवत के अस्वीकार से तुम अति अज्ञ एवं कुण्डी-पुत्र जाने जाओगे। माधवसरस्वती नामक एक यति के प्रति जब एक पण्डित ने श्रीमद्भागवत को अनार्ष (अ-वैदिक) बताया तो उन्होंने उसको बोला ''यह जार से उत्पन्न हुआ है।'' ऐसे पण्डित काशी में गोलक (विधवा का अवैध पुत्र) नाम से जाने जाते हैं ॥४॥

।। इति श्रीमद्भागवत का अप्रामाण्य-निरास नामक पञ्चमी प्रभा ॥५॥

षष्ठी प्रभा

मात्स्यादौ लक्षणादीनि विलोक्यामितबुद्धिकः।
वोपदेवश्चकारैतद् व्यासनाम्ना द्विजर्षभः॥
एतच्च दृढ़बन्धत्वात् पद-लालित्यतस्तथा।
येऽनुमिन्वन्ति ते मूढ़ा निश्चिता वाममार्गिणः॥१॥

मत्स्य-पुराण इत्यादि में लक्षणों को देखकर अमित बुद्धि से युक्त द्विजश्रेष्ठ वोपदेव ने इसकी (श्रीमद्भागवतम् की) रचना की व्यासदेव के नाम से, यह काव्य के दृढ़-बन्धत्व के कारण व पद-लालित्य के कारण बोध होता है। जो इस प्रकार अनुमान लगाते हैं वे वाम-मार्गी गण (तान्त्रिक गण) निश्चय ही मूढ़ हैं ॥१॥

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

एतस्माद् वेदसारात् सर्वमान्याद् भागवताद् भीता वामोपासका राज्ञस्त्रस्ताश्चौराः परस्वमिव विधवाः स्वगर्भमिव निजधर्मं गोपयन्तो विद्वेषादेवं कल्पयन्ति। मात्स्यस्कान्दपाद्मादिभ्यो भागवतस्य लक्षणादीनि ज्ञात्वातिसूक्ष्ममहाबुद्धिर्वोपदेवः संप्रति प्रचरदिदं श्रीमद्भागवतं व्यासनाम्ना निबबन्ध। व्यासकृतं त्वन्यत्। एतस्य व्यासकृतत्वे गाढ़बन्धः पदलालित्यञ्च न स्यान्न हि पाद्मादिषु व्यासकृतेषु श्रीमद्भागवतवद् गाढ़बन्धादिकमस्ति, तस्मान्नवीनमेतदिति तान्निराकर्तुं तद्भाषणं तावदाह-मात्स्यादाविति प्रकटार्थम्॥१॥

अनुवाद

इस वेद-सार, सभी द्वारा पूजित श्रीमद्भागवत से वामोपासक गण (तान्त्रिक गण) भीत होते हैं। जिस प्रकार राजा से त्रस्त चोर परधन को अथवा विधवा अपने गर्भ को गोपन रखते हैं, उसी प्रकार यह तान्त्रिक गण निज वास्तविक स्वभाव (श्री हरि के प्रति विद्वेष) को गुप्त रखते हुए, विद्वेष से इस प्रकार कल्पना करते हैं। उनके अनुसार मत्स्य-पुराण, स्कन्द पुराण, पद्म-पुराण इत्यादि से श्रीमद्भागवत के लक्षणों को जानकर अति सूक्ष्म एवं महान् बुद्धि वाले वोपदेव, सम्प्रति प्रचारित श्रीमद्भागवत की रचना, श्रीव्यासदेव के नाम से की। व्यास-कृत भावगतम् एक अन्य पुस्तक है। उनके अनुसार, व्यास-कृत होने पर इसमें गाढ़बन्ध (क्लिष्ट शब्द-विन्यास) व पद लालित्य नहीं होते। व्यास-कृत पद्म-पुराण इत्यादि में श्रीमद्भागवत के समान गाढ़बन्ध इत्यादि नहीं हैं, अतः यह नवीन ग्रन्थ है। उनकी इस उक्ति के निराकरण के लिए मात्स्यादौ इत्यादि श्लोक बोला गया, जिसका अर्थ स्पष्ट है ॥१॥

सुमहान् दृढ़बन्धस्तु छान्दोग्यादिषु दृश्यते।
वैष्णवे पद-लालित्यं दृढ़बन्धश्च वर्त्तते।
अस्ति सुन्दरकाण्डेऽपि पदलालित्यशालिता।
कथमेषां नवीनत्वं दुर्बुद्धे! न हि भाषसे॥२॥

छान्दोग्य उपनिषद् आदि ग्रन्थों में भी दृढ़बन्ध दृष्ट होता है। श्रीविष्णुपुराण में भी पद-लालित्य एवं दृढ़बन्ध हैं। पद-लालित्यशालिता रामायण के सुन्दर-काण्ड में भी है। हे दुर्बुद्धे! इन सब को भी नवीन ग्रन्थ कैसे नहीं बालते हो? ।।२।।

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

दृढ़बन्धादिसत्त्वेन नवीनत्वं तावद्व्यभिचारयति—सुमहानिति द्वाभ्याम्। छान्दोग्या- दिष्वित्यादिपदादैतरेयादि ग्राह्यम्। श्रीवैष्णवे विष्णुपुराणे। प्रायेणेति बोध्यम्। एवमग्रेऽपि। एवं श्रीगीतासु चोभयं दृष्टम्। स्फुटार्थमन्यत्। तथाच छान्दोग्यादिवत् स्वतःसिद्धं श्रीमद्भागवतस्य दृढ़बन्धादिकमिति नैतावता त्वच्छङ्काविषयतेति भावः। किञ्चान्यनाम्ना ग्रन्थो धनलोभात् साक्षान्मैत्र्या वा दृष्टः। तदुभयञ्च व्यासात्तस्य नास्तीति न तन्नाम्ना तन्निर्मितिः। अपिच—स्ववाक्यान्यार्षान्युक्त्वा लोकान् वञ्चयन् मिथ्याभाषी स्वमाप्तत्वात् पातयेत् पापञ्च महदाप्नुयादिति नेदृक् तादृशस्य कर्म्म॥२॥

अनुवाद

दृढ़बन्धादि के आधार पर श्रीमद्भागवतम् के नवीनत्व का खण्डन करते हैं इस श्लोक में। श्लोकस्थ छान्दोग्यादिषु पद के आदि पद से ऐतरेय आदि उपनिषद् ग्राह्य हैं। श्रीवैष्णवे पद का अर्थ है विष्णु पुराण में। यह प्रायः दिखता है, इस प्रकार समझना होगा। (अर्थात् उपनिषदों में व विष्णु-पुराण इत्यादि ग्रन्थों में दृढ़बन्ध व पदलालित्य प्रायः दिखते हैं।) इस प्रकार और भी ग्रन्थ हैं। श्रीगीता में उभय ही दिखते हैं। शेष श्लोक का अर्थ स्पष्ट है। छान्दोग्योपनिषद् आदि ग्रन्थों के समान श्रीमद्भागवत का दृढ़बन्धादि स्वतः सिद्ध हैं-वह तुम्हारी शङ्का का विषय नहीं हो सकता।

अन्य व्यक्ति के नाम पर ग्रन्थ बना देना धन-लोभ से अथवा साक्षात् मैत्री के कारण दिखता है। उभय कारण ही श्री व्यास देव का वोपदेव के प्रति नहीं था, अतः उनके नाम से श्रीवोपदेव ने इसका निर्म्माण नहीं किया। और भी बात है कि स्वरचित वाक्यों को आर्ष-वाक्य बोलकर लोक-वंचना करते हुए, मिथ्याभाषी श्रीवोपदेव अपने आप्तत्व से पतित हो जाते और महापाप को प्राप्त करते। इस प्रकार का कार्य उनसे नहीं हो सकता ।।२।।

वोपदेव-कृतत्वेऽत्र वोपदेव-पुराभवैः॥
कथं टीकाः कृताः संस्युर्हनुमच्चित्सुखादिभिः॥३॥

वोपदेव ने यदि की भी होती श्रीमद्भागवत की रचना, तो उनसे पूर्व्वकाल में उत्पन्न हुए जो हनुमान्, चित्सुख इत्यादि हैं, उन्होंने किस प्रकार इसकी टीका रची? ।।३।।

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

वोपदेव-कृतत्वं सर्वथा नास्तीत्याह-वोपदेवेति। यद्येतद्भागवतं वोपदेवेन व्यरचीत्युच्यते, तर्हि तस्मात् पूर्वं जातैर्हनुमदादिभिस्तस्मिन् कृताः टीकाः कथं सम्भवेयुः। हनुमान् श्रीरामपार्षदश्चित्सुखश्चाचार्य्यः श्रीमद्भागवतं व्याचख्यौ। श्रीमध्वमुनिः स्वभाष्ये तद्वाक्यान्युदाजहार। स एव श्रीभागवत-तात्पर्य्यं च कृतवान्। तात्पर्य्यस्यापि प्रबोधिनी टीकास्ति। श्रीमद्भागवतमात्रवर्णिते मृद्भक्षण-वस्त्रहरणे श्रीगोविन्दाष्टके वर्णयन् शङ्कराचार्य्योऽपि तद्व्याख्यातवानेव। श्रीमध्व-शङ्करौ हि समकाल-प्रसिध्दौ। शङ्कराचार्य्य-समयादुत्तरे वत्सरशतद्वये व्यतीते वोपदेवोऽभूदिति श्रीरामाश्र-मादिभिर्लिखितम्। यदैते हनुमदादयस्तस्य व्याख्यानादि चक्रुस्तदा वोपदेवस्य जन्मापि नाभूदिति तस्य तत्कर्तृत्वं कथयन् भ्रान्तधीरेव॥३॥

अनुवाद

श्रीमद्भागवत श्रीवोपदेवकृत सर्व्वथा नहीं है - यही कर रहे हैं इस श्लोक में। यदि यह भागवतम् वोपदेव द्वारा रचा हुआ है तो उनसे पूर्व्व काल में जिनकी उत्पत्ति हुई है, जैसे हनुमानजी इत्यादि, उनके द्वारा रची हुए टीका कैसे सम्भव हुई? श्रीराम-पार्षद हनुमान एवं चित्सुख आचार्य ने भागवतम् की व्याख्या की थी। श्री मध्वमुनि ने अपने भाष्य में श्रीमद्भागवत के वाक्यों को उद्धृत कर के लिखा। उन्होंने श्रीभागवत-तात्पर्य्य नामक ग्रन्थ भी रचा। उस तात्पर्य्य-ग्रन्थ की प्रबोधिनी टीका भी उपलब्ध है। केवल श्रीमद्भागवत में वर्णित श्रीकृष्ण की मृद्भक्षण व वस्त्रहरण लीलाओं का वर्णन श्रीगोविन्दाष्टक में करते हुए, श्रीशङ्कराचार्य्य ने भी श्रीमद्भागवत की व्याख्या की थी। यह प्रसिद्ध है कि श्रीमध्व व श्रीशङ्कराचार्य्य समकालीन थे। श्री शङ्कराचार्य्य के समय के पश्चात् दो सौ वत्सर व्यतीत होने पर श्रीवोपदेव आविर्भूत हुए थे - इस प्रकार श्रीरामाश्रम आदि द्वारा लिखित है। जब श्रीहनुमान् आदि ने इस श्रीमद्भागवत की व्याख्यानादि की, तब श्रीवोपदेव का जन्म भी नहीं हुआ था। अतः उनका श्रीभागवत के कर्त्ता बताने वाले भ्रान्तमति हैं ।।३।।

यान्या शङ्काऽर्प्यते पापैः साप्येतेन विनश्यति॥४॥

पापियों द्वारा जो अन्य शंका अर्पित की जाती है, इससे वह भी नष्ट हुआ ॥४॥

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

येति—वोपदेवादतिपूर्वैस्तैरस्य श्रीमद्भागवतस्य व्याख्यातत्वान्नेदं तेभ्योऽर्वाचीनेन तेन कृतमिति प्रतिपादनेन पापैस्तैर्वाममार्गिभिः कृतान्यापि शङ्का विनष्टेत्यर्थः। तथाहि—मात्स्याद्युक्तं लक्षणादिकं वीक्ष्य वोपदेवेन कृतमिदं श्रीमद्भागवतमिति दृढ़बन्धादितः प्रतीयते। तदुक्तलक्षणाद्युपेतं मार्कण्डेयादिवच्छिथिलबन्धं श्रीव्यासकृतं तत्त्वन्यदेवेति शङ्का तुच्छा। इतोऽन्यस्यानुपलब्धेः। यदि स्यात्तर्ह्युपलभ्येत मार्कण्डेयादिवदिति योग्यानुपलब्ध्या इतोऽन्यस्य निवृत्ताविदमेव सम्प्रति प्रचरत् श्रीव्यासकृतं श्रीमद्भागवतमष्टादशान्तर्गतं प्रसिद्धम्। किञ्चैवं मार्कण्डेयादिकमपि मात्स्याद्युक्तलक्षणादि दृष्ट्या केनचित् सुमेधसा कृतमिति त्वया शक्यं वक्तुं दुर्मुखेन। तथाच पुराणमात्रं व्यापादितमिति मा गा विदुषामाप्तानां हासपात्रतामिति ॥४॥

इति षष्ठी प्रभा व्याख्याता॥६॥

अनुवाद

वोपदेव के अति पूर्व्व के व्याख्याताओं द्वारा श्रीमद्भागवतम् की व्याख्या रचे जाने पर, उनसे अर्वाचीन वोपदेव द्वारा इसकी रचना नहीं हो सकती है - इसके प्रतिपादन से, उन पापी वाममार्गिओं की अन्य शङ्का भी विनष्ट हुई। और भी मत्स्य-पुराण आदि में लक्षण आदि को देखकर वोपदेव द्वारा इस दृढ़-बन्ध-युक्त श्रीमद्भागवतम् की रचना की, ऐसा प्रतीत होता है। उक्त लक्षणों से युक्त मार्कण्डेय-आदि पुराणवत शिथिलबन्ध-युक्त श्री व्यासकृत श्रीमद्भागवतम् कोई अन्य ग्रन्थ होगा। यह शङ्का भी तुच्छ है क्योंकि अन्य कोई श्रीमद्भागवत ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। यदि होता तो उपलब्ध रहता - जिस प्रकार मार्कण्डेय-आदि पुराण उपलब्ध हैं, उस प्रकार। "योग्य-अनुपलब्धि" सिद्धान्त से, किसी अन्य ग्रन्थ की अनुपलब्धि के कारण, जिसका सम्प्रति प्रचार है, वही है श्री व्यास-कृत श्रीमद्भागवतम् जो अष्टादश पुराणों के अन्तर्गत है। अपर बात है कि तुम दुर्मुख द्वारा ऐसा कहा जा सकता है कि मार्कण्डेयादि पुराण भी मत्स्यपुराणादि में उक्त लक्षणों को देखकर किसी सुमेधस् द्वारा लिखा गया है। तब तो पुराण-मात्र का ही वध किया गया। इस प्रकार विद्वान व आप्तगणों का हँसी का पात्र न बनो ॥४॥

।।इति श्रीमद्भागवत का अनार्षत्ववाद-निरास नामक षष्ठी प्रभा ।।६।।

सप्तमी प्रभा

नन्वस्त्वेतद् भागवतं वेदरूपं त्वयोदितम्।
किन्त्वध्यायत्रयं त्वस्मिन्नघासुर-वधादिकम्॥
ब्रह्मणो मोहकथनात् विवर्त्तस्य च वर्णनात्।
सङ्गतेः परिदृष्टत्वाद् बाल्य-पौगण्डलीलयोः।
सूचनेऽनुक्तितश्चापि प्रक्षिप्तमिव भाति मे॥१॥

तो श्रीमद्भागवतम् वेदरूप हो - जैसा कि आप द्वारा उदित है। किन्तु उसमें अघासुर-वध-आदि अध्यायत्रय मुझको प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं। (अध्याय १२, १३ एवं १४) उसका कारण है कि उसमें ब्रह्माजी के मोह का कथन है, उसमें विवर्त्तवाद का वर्णन है एवं बाल्य व पौगण्ड लीलाओं की संगति (एकादश एवं पंचदश अध्यायों में) परिदृष्ट है। अन्त में श्रीमद्भागवत के अर्थ सूचन में भी यह तीन अध्याय अनुक्त हैं ॥१॥

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

अत्र केचिदेवमाहुः—नन्वित्यादि। एतच्छुकभाषितमेव श्रीमद्भागवतं, किन्त्वस्य दशमस्कन्धीयमघासुरवधादिरूपकमध्यायत्रयं प्रक्षिप्तं भवति। तत्र ब्रह्ममोहस्य विवर्त्तस्य च वर्णनात्। अघविमोक्षं सखिभिः सह सम्पृक्तां भुक्तिञ्च वीक्ष्य तदीश्वरत्वे सन्दिहानो ब्रह्मा मोहं प्रापेति तत्र वर्णितम्। तस्य मोहस्तु न सम्भवति। 'भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित्' (भा० २.६.३७) इति तं प्रति भगवद्वरात्। 'न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः। न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे यन्मे हृदौत्कण्ठ्यवता धृतो हरिः' (भा० २.६.३३) इति तद्वाक्याच्च। 'आत्मानमेवात्मतयाऽविजानताम्' इत्यादौ (भा० १०.१४.२५) रज्जुसर्पन्यायेन प्रपञ्चस्य ब्रह्मविवर्त्तत्वं तत्र वर्णितम्। तद्वादश्च वैष्णवसिद्धान्तविरोधी 'एवं विहारैः कौमारैः कौमारं जहतुर्व्रजे। निलायनैः सेतुबन्धैर्मर्कटोत्प्लवनादिभिः (भा० १०.११.५६)' इत्येकादशान्तपद्येन कौमारीं लीलां समाप्य पञ्चदशादौ 'ततश्च पौगण्डवयः श्रितौ व्रजे बभूवतुस्तौ पशुपालसम्मतौ (भा० १०.१५.१)' इत्यादिना पौगण्डलीला वर्णिता। एवमुभयोर्लीलयोः सङ्गतेर्दर्शनात्। अन्ते श्रीमद्भागवतार्थसूचने तदध्यायार्थानुक्तेश्च तत्प्रक्षिप्तमिव मे भाति ।।१।।

अनुवाद

यहाँ कुछ लोगों की उक्ति बताई जा रही है, जो इस प्रकार है। यह श्रीशुक द्वारा भाषित ग्रन्थ ही श्रीमद्भागवत है। किन्तु इसके दशम-स्कन्द में अघासुर वधादिरूपक अध्यायत्रय (अध्याय १२, १३ व १४) प्रक्षिप्त हैं। वहाँ ब्रह्माजी के मोह का व विवर्त्तवाद के वर्णन के कारण । वहाँ वर्णित है कि अघविमोचन का व सखागण-सहित एकत्र भोजन लीला का दर्शन कर श्रीकृष्ण के ईश्वरत्व में सन्दिहान ब्रह्मा जी मोहित हुए थे। परन्तु उनका मोह होना तो सम्भव नहीं है क्योंकि उन्हें भगवान् का वरदान प्राप्त है - "आप कल्प-विकल्प में कभी भी विमोहित नहीं होंगे।" (श्रीमद्भागवतम् २.९.३७) श्री ब्रह्मा की उक्ति है - "मेरे वाक्य कदापि मिथ्या नहीं होते हैं। मेरा मन भी कभी मिथ्या भ्रम में पतित नहीं होता है। मेरे इन्द्रिय समूह कदापि असत्पथ में धावित नहीं होते हैं, क्योंकि मेरे उत्कण्ठायुक्त हृदय में श्री हरि धृत हैं।" (श्रीमद्भागवतम् २.६.३३) और भी "अपने आप को आत्मा के रूप में परिज्ञात न होने पर अज्ञान-वशतः सम्पूर्ण प्रपञ्च उत्पन्न होता है एवं ज्ञान उदित होने पर वह पुनः विलीन हो जाता है।" (श्रीमद्भागवतम् १०.१४.२५) इत्यादि वचन में रज्जुसर्पन्याय से प्रपञ्च का ब्रह्मविवर्त्तवाद वर्णित है। यह वाद वैष्णवसिद्धान्तविरोधी है।

"इस प्रकार कौमारवयसोचित निलायन, सेतुबन्ध व मर्कटवत् लम्फनादि विविध विहार कर, कौमारकाल व्रज में अतिवाहित किए थे।" (श्रीमद्भागवतम् १०.११.५९) यह श्लोक एकादश-अध्याय का अन्तिम श्लोक है। कौमारलीला के समापन के पश्चात् पंचदश अध्याय के आरम्भ में "इसके पश्चात् पौगण्डवयः सम्पन्न श्रीकृष्णबलराम व्रज में पशु-पालक के रूप में लीला किए।" (श्रीमद्भागवतम् १०.१५.१) इत्यादि में पौगण्डलीला वर्णित है। इस प्रकार दोनों लीलाओं की संगति दिखती है। अन्त में (द्वादश स्कन्ध का द्वादश अध्याय) श्रीमद्भागवत के अर्थ-सूचन में इन अध्यायों (१२,१३ एवं १४) के अर्थ की अनुक्ति से यह अध्याय प्रक्षिप्तवत् लगते हैं ॥१॥

मैवं वादीर्महाबुद्धे ब्रह्ममोहस्तृतीयके।
एकादशे विवर्त्तोक्तिर्वैराग्य-प्रतिपादिका॥२॥

हे महाबुद्धे (सोपहास सम्बोधन) ! इस प्रकार न बोलें। ब्रह्म-मोह तृतीय-स्कन्ध में भी है। एकादश-स्कन्ध में विवर्त्तवाद की उक्ति वैराग्य का प्रतिपादक है ।।२।।

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

परिहरति—मैवमित्यादिना। भवान् कल्पेति यो वरो भगवता ब्रह्मणे दत्तः, स किल कल्पेषु ये विकल्पाः सर्गास्तेषु वैषम्यादि-दोषेण भवान्न विमुह्यतीत्यर्थको न तु मन्माययापि न मुह्यतीत्यर्थकश्च। तथा श्रीबलशिवयोस्तदभ्यधिकयोरपि मोहदर्शनात्। अतः कर्हिचिदपीति

नोक्तम्। एवञ्च न भारतीत्यादि च व्याख्यातम्। अन्यथा तृतीये (८मे अध्याये) ईश्वरत्वाभिमानपरिहारफलकं सरस्वत्या तन्मोहवर्णनं 'छाया प्रत्याह्वयाभासा' इत्येकादशे (२८/५) विवर्त्तवर्णनञ्च प्रक्षिप्तं स्यात्। ननु भवतां विवर्त्तवर्णने का सङ्गतिस्तत्राह-वैराग्येति। अविषये भ्रम-सम्भवादेवेति भावः॥२॥

अनुवाद

उक्त आशंका का परिहार किया जा रहा है इस श्लोक में। ''भवान् कल्प'' इत्यादि श्लोक में (२.९.३६) जो वर भगवान् द्वारा ब्रह्माजी को दिया गया उसका तात्पर्य है- ''कल्प समूह में जो विकल्प, अर्थात् सृष्टि है, उसमें वैषम्यादि दोष-समूह को देखकर आप विमोहित नहीं होंगे।'' उसका अर्थ यह नहीं - मेरी माया भी मोहित नहीं करेगी। श्रीब्रह्माजी से भी अभ्यधिक श्री बलदेव व श्रीशिव का भी मोह होता है। अतः कभी भी मोह नहीं होगा, इस प्रकार उक्त नहीं हुआ। इसी प्रकार ''न भारती'' (श्रीमद्भागवतम् २.६.३३) श्लोक भी व्याख्यात होना चाहिए। अन्यथा तृतीय स्कन्ध में सरस्वती द्वारा ईश्वरत्वाभिमान-परिहार-सूचक ब्रह्माजी का मोह-वर्णन एवं एकादश-स्कन्ध में ''छाया प्रत्याह्वयाभासा'' (श्रीमद्भागवतम् ११.२८.५) (छाया-समान आभास के द्वारा इत्यादि) में विवर्त्त-वर्णन भी प्रक्षिप्त हो जाएंगे। यदि प्रश्न हो कि आपलोगों का विवर्त्त-वर्णन में क्या संगति है? तो उसका उत्तर देते हैं श्लोकस्थ ''वैराग्य-प्रतिपादिका'' में। अर्थात्, अविषय में भ्रम की सम्भावना दूर करता है।।२।।

यत्समाप्यापि कौमारीं लीलां तां स्मृतिगां मुनिः।
अपूर्व्वां प्रार्थितां प्राख्यत्तेन किञ्चिन्न दूषणम्॥३॥

कौमारावस्था की लीलाओं का विवरण समाप्त कर, (परीक्षित् महाराज द्वारा) प्रार्थना किए जाने पर, पूर्व्व में अकथिता लीलाओं को स्मरण कर मुनि (श्री शुकदेव जी) ने आख्यान सुनाया। इसमें कोई दोष नहीं है ।।३।।

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

नन्वेवमित्यादिनैकादशान्तिम-पद्येन ततश्चेत्यादिना पञ्चदशादिमपद्येन च लीलयोः सङ्गति-लाभादन्तरालिकमध्यायत्रयं प्रक्षिप्तमित्याशङ्का बलीयसीति चेत्तत्राह-यदिति। तां कौमारीमेवाघासुरवधादिकाम्। अपूर्वां पूर्वमनुक्तामाश्चर्य्याञ्चेत्यर्थः। प्रार्थितां परीक्षिता वाञ्छिताम्। स्मृतिगां स्मरणपथमारूढ़ाम्। एतदुक्तं भवति — न चाघासुर वधाद्या लीलात्रासङ्गता। कौमारलीलानन्तरत्वात्, पौगण्डलीलामुक्त्वानुक्तेश्च न च पुनरुक्तत्त्वादसङ्गता, प्रागनुक्तेः। न च समाप्यापि तदुक्तिः शङ्काहेतुः। श्रोतृप्रेष्ठाया

विचित्रायाः स्मृतिमारूढ़ायास्तस्याः कथने समाप्योक्तिदोषव्युदासात्। श्रोतृप्रेष्ठत्वं 'त्वयाऽन्यदपि कृष्णस्य तोकाचरितमद्भुतम्' इत्यादि (१०/७/३) तदुक्तेः ॥३ ॥

अनुवाद

अब "एवम् विहारैः" इत्यादि एकादश अध्याय के अन्तिम पद्य द्वारा एवं "ततश्च पौगण्ड" इत्यादि पञ्चदशाध्याय के आदि पद्य द्वारा लीलाद्वय के सङ्गतिलाभ के कारण तन्मध्यवर्त्ती अध्यायत्रय प्रक्षिप्त हैं- इस प्रकार की बलवती आशङ्का यदि हो तो उसके उत्तर में कहते हैं यह श्लोक। इस श्लोक में कौमारी लीला का अर्थ है अघासुरवधादि लीलाएँ। यहाँ अपूर्व्वा का अर्थ है पूर्व्व में अनुक्ता व आश्चर्यमयी लीला। प्रार्थिता का अर्थ है परीक्षित् महाराज द्वारा वाञ्छिता। स्मृतिगा का अर्थ है श्रीशुकदेवजी के स्मरण-पथ पर आरूढ़ा। यहाँ यह उक्त हो रहा है - यहाँ अघासुरवधादि लीला असङ्गत नहीं है इन कारणों से। यह कौमारलीला के अनन्तर ही हैं एवं पौगण्ड-लीलाओं के विवरण के पश्चात् इनकी उक्ति नहीं हुई। इनकी पुनरुक्ति के कारण यह असङ्गता हैं, ऐसा भी नहीं है क्योंकि पूर्व्व में इनकी उक्ति हुई ही नहीं। कौमारलीला के समापन के पश्चात् इनकी उक्ति हुई है - यह भी शङ्का का हेतु नहीं हो सकता है। वे विचित्रा लीलाएँ श्रोता (श्री परीक्षित् महाराज) की प्रियतमा थीं, एवं श्रीशुकदेव जी के स्मृतिपथ पर आरूढ़ा थीं। अतः लीला-वर्णन के समापन के पश्चात् उनकी पुररुक्ति का दोष निरस्त हुआ। श्रोता का प्रिय होना श्री परीक्षित् महाराज की इन उक्तियों से ज्ञात होता है-"अथान्यदपि कृष्णस्य तोकाचरितमद्भुतम्" इत्यादि (१०.७.३) (अर्थात्, श्रीकृष्ण के अन्य अद्भुत चरितों का आप विवरण करें।) ।। ३ ।।

गोपीगीतादिषु स्पष्टमघसंहृतिरीक्ष्यते।
आचारादि-कथानाञ्च तथात्वे क्षिप्तता भवेत् ॥
तस्मादत्र स्युरध्यायाः पञ्चत्रिंशच्छतत्रयम् ॥४ ॥

इति श्रीपञ्चशिखिगुणवाद-निरासः सप्तमी प्रभा ॥७ ॥

गोपी-गीतादि लेखों में अघासुर-संहार का आख्यान स्पष्टरूप से दिखता है। आचारादि कथाओं का (अर्थात् वर्णाश्रमधर्म इत्यादि का विवरण) इसी कारण से प्रक्षिप्ततादोष हो (उपहास-पूर्वक व्यञ्जन)। अतः यहाँ (अर्थात् श्रीमद्भागवतम् ग्रन्थ में) पञ्चत्रिंशत् शतत्रय अध्याय हैं ॥४ ॥

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

ननु द्वादशस्कन्धे श्रीमद्भागवतानुक्रमणिकायामेतस्या लीलाया असूचनादिदं त्रयं प्रक्षिप्तं स्यात्तत्राह—गोपीति। (भा० १०/३१/३) गोपीगीते तावद् विषजलाप्ययाद् व्यालराक्षसादिति व्यालराक्षसो ह्यघासुर एव निर्दिष्टः। 'यन्न व्रजन्त्यघभिदो रचनानुवादाच्छृण्वन्ति येऽन्यविषयाः कुकथा मतिघ्नीरिति' तृतीये (१५/२३)अघभिदिति तद्वधचरित-निमित्तकं श्रीभगवतो नामोक्तम्। ब्रह्माण्डे पाद्मोत्तरखण्डे चेयं लीला प्रसिद्धा। सर्पलयचतुर्मुखाख्ये च लीलास्थाने ख्याते। तस्मान्नैतत् त्रयं प्रक्षिप्तं शक्यं वक्तुम्। भवदन्यैः सर्व्वैः टीकाकृद्भिर्मूलत्वेन व्याख्यातत्वाच्चेति। अथान्तिमे असूचनमात्रेण पूर्वोक्तानां प्रक्षिप्तत्वे सङ्गते सप्तमैकादशस्थितानां वर्णाश्रमाचारनिमिजायन्तेयकथानामसूचनात् प्रक्षिप्ततापत्तिर्महान् दोषः स्यात्। एवमन्यासां सूचनं मृग्यम्। महाबुद्धे इति सोपहास सम्बोधनम्। असाधारणं श्रीभगवदैश्वर्य्य-व्रजतद्भक्तमहिमनिर्भरञ्च निरूपयन् प्रक्षिप्तं तद् ब्रुवन्न विचारिताभिधायी भवानिति। (वल्लभाचार्य्योऽपि स्वकृते पुरुषोत्तमसहस्रनाम्न्ये तदध्यायत्रयार्थैर्नामानि निबबन्धेति द्रष्टव्यं) तस्मादित्यगूढार्थम्। यत्तु 'द्वात्रिंशत् त्रिशतञ्च यस्य विलसच्छाखा' इति स्वामिभिरध्यायत्रयमूनितं तदिदमेवेति वदन्ति, तद्भ्रान्तमेव। अध्यायसंख्याश्लोकसहिततट्टीकासद्भावात्तदर्थत्वे द्वात्रिंशत् त्रिशतीत्यापत्तेश्च। तस्माद्द्वात्रिंशच्च त्रयश्च शतानि चेति द्वन्द्वैक्यमेव तैरभिमतम्। बहुत्वञ्च कपिञ्जलालम्भनन्यायेन त्रित्वे पर्य्यवस्यति। अन्यथानवस्थानात् ॥४॥

इति सप्तमी प्रभा व्याख्याता ॥७॥

अनुवाद

द्वादशस्कन्ध में श्रीमद्भागवत-अनुक्रमणिका में इन लीलाओं के असूचन के कारण यह तीन अध्याय प्रक्षिप्त हो सकते हैं- इस आशङ्का के निरसन के लिए यह श्लोक रचा गया है। गोपीगीत (श्रीमद्भागवतम् १०.३१.३) में "विषजलाप्ययात् व्यालराक्षसात्" में व्यालराक्षस शब्द से अघासुर ही निर्द्दिष्ट हुआ है। श्रीमद्भागवतम् (३.१५.२३) में "यन्न व्रजन्त्यघभिदो रचनानुवादाच्छृण्वन्ति---" में श्री भगवान् का जो अघभिद नाम उक्त है वह अघासुर वधचरित-निमित्तक ही है। ब्रह्माण्ड पुराण में पाद्मोत्तरखण्ड में भी यह लीला प्रसिद्ध हैं। सर्पलय व चतुर्मुख नामक लीलास्थलियाँ भी ख्यात हैं। अतः इन तीन अध्यायों को प्रक्षिप्त नहीं कह सकते हैं। आप के अतिरिक्त सभी टीकाकारों द्वारा इनको मूल मानकर ही इनपर व्याख्या रचे जाने के कारण यह तीन अध्याय प्रक्षिप्त नहीं माने जा सकते हैं।

ग्रन्थ के अन्त में असूचन मात्र से ही यदि पूर्वोक्त अध्यायों का प्रक्षिप्त होना सङ्गत है तो सप्तम स्कन्ध स्थित वर्णाश्रम आचार व एकादश स्कन्ध स्थित निमि-जायन्तेय कथा के असूचन के कारण प्रक्षिप्तता-आपत्ति रूप महान् दोष हो सकते हैं। इस प्रकार अन्य कथाओं की स्थिति भी अनुसन्धेय है। पूर्व्व श्लोक में ''महाबुद्धे'' एक सोपहास सम्बोधन है। श्री भगवान् का असाधारण ऐश्वर्य, व्रज व तद्भक्तों की महिमातिशय्य का वर्णन करते हुए अध्यायत्रय को आप प्रक्षिप्त बोले हैं, अतः आप विचारशील नहीं हैं। श्री वल्लभाचार्य ने स्वकृत पुरुषोत्तम-सहस्रनाम में इन तीन अध्यायों के अर्थ को लेकर नामसमूह की रचना की है। श्लोकस्थ 'तस्मात्' शब्द का अगूढ़ार्थ है- यह प्रकाश्य रूप से उक्त हो रहा है कि श्रीमद्भागवतम् में ३३५ अध्याय हैं। श्रीधरस्वामी का वचन है - ''द्वात्रिंशत् त्रिशतञ्च यस्य विलसच्छाखा''। (इसका साधारणतः अर्थ किया जा सकता है - ''जिस श्रीमद्भागवत के ३३२ अध्याय शाखाओं के रूप में विलसित हैं।'') यह जो उक्ति है कि श्रीधरस्वामीपाद ने तीन अध्यायों को कम कर दिया है, यह भ्रान्त है। उन्होंने अध्यायसंख्या व श्लोक सहित समग्र ग्रन्थ की टीका की है। इस प्रकार का (३३२ अध्याय) अर्थ करने से उचित पद होना चाहिए ''द्वात्रिंशत् त्रिशती''। अतः उनका ''द्वात्रिंशत् त्रिशतम्'' शब्दों का अभिमत है द्वन्द्व समास एकवचन में ''द्वात्रिंशच्च त्रयश्च शतानि च'', अर्थात् ३३५ संख्या। यहाँ ''शतानि'' शब्द बहुवचन में है। अतः कपिञ्जलालम्भन-न्याय[३] से ३ संख्या में यह पर्यवसित होता है (अर्थात् यह ३०० संख्या का सूचक है)। अन्यथा अनवस्था दोष हो जाएगा ॥४॥

।। इति श्रीपञ्चशिखिगुणवाद वा विजयध्वजीय गुणवाद
निरास नाम सप्तमी प्रभा ।।७।।

३ - यजुर्वेद का निदेश ''वसन्ते कपिञ्जलान् आलभेत्'' के अनुसार, यज्ञ-विशेष में कपिञ्जल की आहुति का विधान है। कितने कपिञ्जल? ''कपिञ्जलान्'' शब्द बहुवचन होने से, उनकी संख्या न्यूनतम तीन होना आवश्यक है। अतः किसी स्थान पर बहुवचन शब्द से तीन संख्या का निर्धारण ''कपिञ्जल आलम्भन न्याय'' से होता है।

उपसंहारः

करीन्द्रे भ्राजमाणेऽपि स्तूयमाने सुपूरुषैः।
वुक्कन्ति सारमेयाश्चेत् का क्षतिस्तस्य जायते॥१॥

जिस भ्राजमान करीन्द्र की स्तुति सुपुरुष अर्थात् सुधीगण करते हैं, उस पर यदि कुक्कुर भौंकते हैं, तो उसकी क्या क्षति होती है? ॥१॥

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

एवं दुर्धीभिरर्पितान् शङ्कापङ्कानपनीय वेदं तत्सारं श्रीमद्भागवतञ्च उत्कर्षयति-करीन्द्रे इति। सारमेयाः श्वानः वुक्कन्ति भषणं कुर्वन्ति। वुक्क कुक्कुरभषणे। स्फुटार्थमन्यत्॥१॥

अनुवाद

दुर्बुद्धिगण द्वारा समर्पित शङ्कारूप पङ्कादि दुरीभूत करके वेद एवं उसका सारस्वरूप श्रीमद्भागवत के उत्कर्ष की वर्णना कर रहे हैं इस श्लोक में। यहाँ सारमेयाः का अर्थ है कुक्कुरों का दल। वुक्कन्ति का अर्थ है "भौंकते हैं"। शेष श्लोक का अर्थ स्पष्ट है ॥१॥

वेदे भागवते चास्ति सन्देहो न हि कश्चन।
तथापि तद्रुचीनां स्यात् सौख्यायैष मम श्रमः॥२॥

वेद में व भागवत में कोई सन्देह नहीं है। तथापि मेरा यह श्रम उनमें रुचिशील व्यक्तियों के सौख्य के लिए हो ।।२।।

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

स्वश्रमस्य साफल्यमाह—वेद इति। तद्रुचीनां वेदे श्रीमद्भागवते च प्रीतिमतामत्रोक्तानि युक्तिप्रमाणानि अविदुषां दुर्मुखविभाषाभिः खिद्यमानानामित्यर्थः॥२॥

अनुवाद

अपने श्रम का साफल्य कह रहे हैं इस श्लोक में। यहाँ तद्रुचीनां का अर्थ है ऐसे व्यक्तियों का जो वेद में व श्रीमद्भागवत में प्रीतिमान् हैं पर इस ग्रन्थ में उक्त युक्तिप्रमाण से अनवगत हैं व दुर्मुखगणों के कदर्य भाषा से खिन्न हैं ।।२।।

निबद्धो युक्तिभिः प्राचा श्रीनाथप्रेरणोद्भवः।
श्रीनाथसेविनां भूयात् प्रीत्यै सिद्धान्तदर्पणः॥३॥

श्रीनाथ जी की प्रेरणा से उद्भूत यह ग्रन्थ प्राचीन महाजनों की युक्तियों से निबद्ध है। यह सिद्धान्तदर्पण नामक ग्रन्थ श्रीनाथजी के सेवकों की प्रीति के लिए हो ।।३।।

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

प्रवर्तकं प्रकाशयन् ग्रन्थस्य स्वकपोल–कल्पितत्वं निराकरोति—निबद्ध इति। श्रीनाथेन श्रीविष्णुना। पक्षे श्रीनाथेन विप्रर्षिणा स्वमित्रेण परमभागवतेन यत्प्रेरणं प्रवर्त्तनम्। तस्मादुद्भवः प्राकट्यं यस्य सः। स्फुटमन्यत्॥३॥

अनुवाद

इस ग्रन्थ के प्रवर्त्तक का नाम प्रकाश करते हुए इस ग्रन्थ का स्वकपोलकल्पित होने का निराकरण कर रहे हैं। यहाँ "श्रीनाथ के द्वारा" कहने का तात्पर्य है श्री विष्णु के द्वारा। अन्य पक्ष में "श्रीनाथ के द्वारा" का अर्थ है अपने उस मित्र के द्वारा जो विप्र–ऋषि हैं, परमभागवत हैं व जिनके प्रेरण से इस ग्रन्थ का उद्भव हुआ। शेष का अर्थ स्पष्ट है ।।३।।

सद्युक्तिभूषणव्रात–विद्याभूषण निर्मिते।
सिद्धान्त–दर्पणे वाञ्छा सतामस्तु मुदर्पणे॥४॥

।। इति श्रीबलदेवविद्याभूषणकृत–सिद्धान्तदर्पणो ग्रन्थः समाप्तः।।

उत्तम युक्तिरूप भूषणों से अलङ्कृत, विद्याभूषण द्वारा निर्मित हर्षविधायक सिद्धान्त–दर्पण में सन्तों की इच्छा हो ॥४॥

।। श्री बलदेव विद्याभूषणकृत सिद्धान्तदर्पण ग्रन्थ समाप्त हुआ ।।

श्रीनन्दमिश्रकृता टिप्पणी

ग्रन्थस्य सद्वाञ्छनीयत्वं वदन् स्वनाम ग्रन्थकृत् प्रकाशयति—सदिति। मुदर्पणे हर्षप्रापके॥४॥

टिप्पणी नन्दमिश्रेण नन्दसूनुनिषेविणा।
सिद्धान्तदर्पणेऽकारि हारिण्यस्तु सतामियम्॥

।। इति श्रीसिद्धान्तदर्पणटिप्पणी समाप्ता ।।

अनुवाद

ग्रन्थ के वाञ्छनीयत्व को बोलते हुए, ग्रन्थकर्त्ता स्वनाम प्रकाशित कर रहे हैं इस श्लोक में। यहाँ मुदर्पण का अर्थ है हर्ष-दायक ॥४॥

नन्द-सुत श्रीकृष्ण के सेवक, श्री नन्द-मिश्र द्वारा सिद्धान्त-दर्पण पर टीका की गई। यह सन्तजनों के आह्लादप्रद हो।

।। श्री सिद्धान्तदर्पण ग्रन्थ की टिप्पणी का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ ।।

।। श्री हरिः ।।